CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि रमण का अध्यात्म चिन्तन

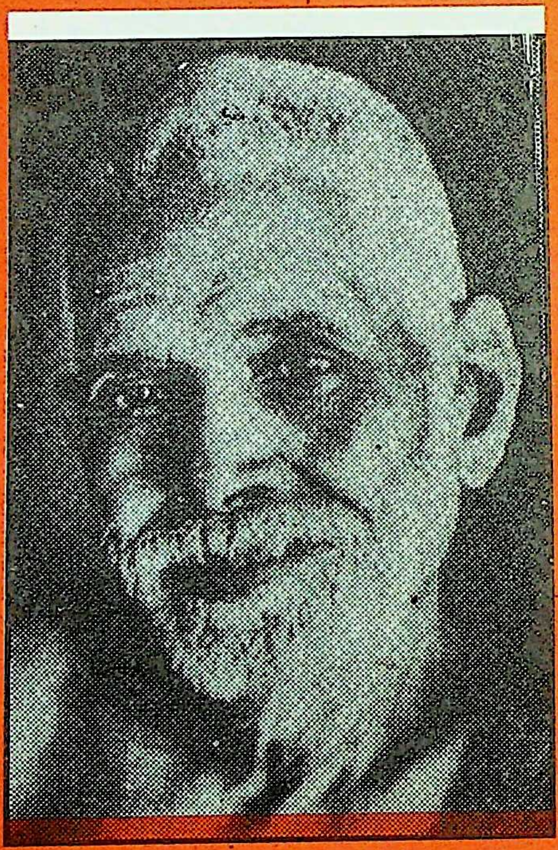

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्तन-क्रम

		पृष्ठ संख्या
१.	गुरु	१
२.	प्रवृत्ति और निवृत्ति	३
३.	जगत और जगदीश्वर	६
४.	जन्म तथा माया	११
५.	भक्ति और समर्पण	१३
६.	मन, विचार और उनका निरोध	१४
७.	आनन्द और मोक्ष	१७
८.	ब्रह्मानुसन्धान	२०
६.	विविध प्रश्नोत्तर	२५
१०.	ज्ञानी कौन है ?	३४
११.	अभ्यास, ध्यान एवं समाधि	३५
१२.	साक्षात्कार	३६
१३.	सद्दर्शनम्-भावार्थ	४४
१४.	सत्संग (श्रीस्वामी अखण्डानन्द जी)	५२
१५.	चिन्मय-चिन्तन (ब्रह्मयोगी परम् श्री हरिश्चन्द्र जी)	५५

संक्षेपकर्ता एवं संशोधनकर्ता

श्री सर्वाधिष्ठानमुनि (श्री परमेश्वर दयाल जी)

पुस्तक-प्राप्ति स्थान :-

श्री निजानन्द जी
४३, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर

श्री प्रभुद्धानन्द जी
दण्डी आश्रम, शुक्रताल

मूल्य २) रु०

सत्संग भवन ट्रस्ट
शामली रोड, मुजफ्फरनगर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि रमण का अध्यात्म-चिन्तन

गुरु

१. प्रश्न- क्या गुरु तथा इष्ट देवता आत्मसाक्षात्कार में सहायता कर सकते हैं?

महर्षि-सहायता तभी प्रभावशाली होगी, जब तुम स्वयं भी प्रयास करोगे। तुम्हारा स्वयं का पुरुषार्थ अनिवार्य है। अपने स्वयं के वास्तविक स्वरूप का दर्शन तो तुम्हें ही करना होगा। इसके लिए अधिक सहायता की आवश्यकता नहीं है।

२. प्रश्न- आत्मज्ञान के लिए गुरु की आवश्यकता कब तक रहती है?

महर्षि-जब तक अपने स्वरूप पर परिच्छिन्नता का आरोप किया हुआ है, तब तक अर्थात् महानता के साक्षात्कार तक गुरु की आवश्यकता बनी रहती है। ईश्वर की सम्यक् उपासना से समर्पण का भाव दृढ़ होकर अन्तर्मुखता आ जाती है जो साक्षात्कार में हेतु है।

३. प्रश्न-परन्तु जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार तो किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है?

महर्षि-उन्होंने ऐसा कैसे जाना ? आत्मज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त ही ऐसा कहा जा सकता है, उससे पूर्व नहीं। जब तक तुम आत्मा के साक्षात्कार के प्रयास में लगे हुए हो; गुरु आवश्यक है। गुरु आत्मा है। तुमने अपने आपको देह मान लिया है, इसलिए तुम गुरु को देहधारी मानते हो। न तुम देह हो, न गुरु। तुम आत्मा हो तथा गुरु भी वही है। जो गुरु व शिष्य का भेद मिटा दे, वही गुरु है। जिसे तुम आत्मसाक्षात्कार कहते हो, उसके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है।

४. प्रश्न-क्या आत्मसाक्षात्कार करने के लिए गुरु की सेवा करना परम आवश्यक है?

महर्षि-क्या आत्मा सदैव साक्षात् नहीं है? इसको ठीक प्रकार से न समझ पाने के कारण मनुष्य यह मान लेता है कि गुरु अपने शिष्य को 'तत्त्वमसि' का उपदेश करता है और शिष्य 'अहं ब्रह्म' की अनुभूति कर लेता है। अज्ञानता से वह ब्रह्म

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को अन्य वस्तु की अपेक्षा बहुत बड़ा तथा बलवान् मानता है। सीमित 'मैं' के कारण मनुष्य कितना दम्भी और दुराग्रही है। यदि यही 'मैं' विशाल हो जाये तो क्या स्थिति होगी? इस मिथ्या 'मैं' का नष्ट होना परमावश्यक है, जो गुरु-सेवा से शक्य होगा। साक्षात्कार शाश्वत है तथा गुरु उसे नया लाकर नहीं देता। वह केवल अज्ञानता के निवारण में सहायक होता है। वह तुम्हारी इस भ्रान्ति का निवारण करने में तुम्हारी सहायता करता है कि तुम्हें साक्षात्कार नहीं हुआ।

५. **प्रश्न**–सद्गुरु की प्राप्ति कैसे हो? क्या गुरु-कृपा ईश्वरीय-कृपा का परिणाम नहीं है?

महर्षि–सद्गुरु अन्दर है। तुम गुरु-कृपा और ईश्वर-कृपा में भेद क्यों करते हो? जो आत्मा है, वही ईश्वर है और वही गुरु भी।

६. **प्रश्न**– क्या गुरु प्रत्यक्ष आकार ग्रहण नहीं करता? क्या मैं मूतिमान् गुरु प्राप्त कर सकता हूँ?

महर्षि–क्योंकि तुम अपने अस्तित्व को अपनी देह से मिला देते हो, इसलिए यह प्रश्न कर रहे हो। मालूम करो कि क्या तुम देह हो? जिसे प्रकार जंगली मृग को धोखा देकर पकड़ने के लिए मृग का ही उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'मैं देह हूँ' के ज्ञान-शून्य विचार को नष्ट करने के लिए गुरु को देह सहित प्रकट होना पड़ता है। ये बातें भी मूर्तिमान् गुरु ही कह रहा है। वस्तुतः गुरु अन्दर है, आत्मा ही है।

७. **प्रश्न**– क्या मैं अपने को गुरु की शरण में समर्पित कर दूँ? क्या भगवान् (आप) दीक्षा देते हैं?

महर्षि–निर्देशन तभी तक आवश्यक है, जब तक कोई अपने आप को समर्पित नहीं कर देता। मौन सर्वोत्तम एवं परम शक्तिशाली दीक्षा है। अन्य दीक्षाएँ निम्न स्तर की हैं। मौन दीक्षा सबके हृदयों का परिवर्तन कर देती है। वहाँ न गुरु है, न शिष्य। अज्ञानी अपने को तथा गुरु को भी देहरूप मानता है। परन्तु क्या गुरु अपने को देह मानता है? वह देह से परे हो चुका है। उसके लिए भेद नहीं रहा। इस प्रकार अज्ञानी गुरु और शिष्य मूलभूत सिद्धान्त को नहीं समझ पाते।

८. **प्रश्न**– गुरु अपनी शक्ति को शिष्य में संचारित करके उसे आत्मसाक्षात्कार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करा सकते हैं, क्या यह सत्य है?

महर्षि–गुरु आत्म-साक्षात्कार नहीं कराता। वह केवल उसकी बाधाओं को दूर कर देता है। आत्मा तो साक्षात् ही है।

९. प्रश्न– गुरु का अनुग्रह और उसका मोक्ष-प्राप्ति में क्या महत्त्व है?

महर्षि–शरीर में मिथ्या तादात्म्य के कारण गुरु को शरीर सहित माना जाता है; परन्तु गुरु के दृष्टिकोण से गुरु केवल आत्मा है। आत्मा केवल एक है। गुरु बताता है कि केवल आत्मा की सत्ता है। आत्मा की अभिव्यक्ति अनुग्रह की अभिव्यक्ति है। अनुग्रह की प्राप्ति अन्यत्र कहाँ होगी? यह केवल आत्मा से ही होगी। वास्तव में आत्मा ही गुरु है। आत्मातिरिक्त कुछ नहीं है। मोक्ष भी तुमसे बाहर कहीं नहीं है। मनुष्य को मुक्ति की जब तीव्र और निर्विकल्प उत्कण्ठा होती है, तब अन्तस्थ गुरु उसे अन्दर की ओर खींच लेता है तथा बाह्य गुरु उसे आत्मा की ओर धकेलता है, यही गुरु का अनुग्रह है।

१०. प्रश्न– सच्चिदानन्द की अखण्ड स्थिति उपलब्ध कर शिष्य ने गुरु से प्रार्थना की कि वह गुरु-कृपा के लिए दक्षिणा में क्या समर्पित करे?

महर्षि–तुम सदेव शाश्वत, निरन्तर परमानन्द में स्थित रहा–यही मेरी दक्षिणा है इससे फिसलकर दूर मत जाना ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

११. प्रश्न– प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्गों में कौन-सा उत्तम है?

महर्षि–केवल शुद्ध और सहज आत्मा की अनुभूति करना निवृत्ति है। आत्मा को जगत् सहित देखना प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दों में, मन का अन्तर्मुखी रहना निवृत्ति है उसकी बहिर्मुखता ही प्रवृत्ति है। परन्तु आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है। दोनों एक ही हैं। आत्मा का साक्षात्कार ही सबका एकमात्र लक्ष्य है।

१२. प्रश्न– कर्म क्या है और अकर्म क्या है?

महर्षि–कर्ता को देख लो तो कर्म स्पष्ट हो जायेगा। अहंकार के नष्ट होने पर व्यक्ति से जो भी कर्म होता है, वह अकर्म हैं। पहले अहंकार को नष्ट करो, फिर देखो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१३. **प्रश्न**- कर्मयोंग क्या है? मुमुक्षु को क्या कर्म करना चाहिए?

महर्षि-कर्म योग वह योग है जिसमें मनुष्य स्वयं कर्त्ता होने का आग्रह नहीं करता। आवश्यक कर्म स्वतः ही होने लगते हैं; जैसे नाटक में अभिनेता अभिनय करता हो, राग-द्वेष से रहित होकर।

तत्पर साधक के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निरूपण करने वाला गुरु सच्चा नहीं होता। साधक निज कर्मजाल से पीड़ित होकर आता है और विश्रान्ति चाहता है। उसे कर्म का निर्देशन करना कदापि हितकर नहीं हो सकता। कर्म मनुष्य के अन्तस्थ आनन्द को ध्वस्त करता है। कर्म का उपदेशक गुरु, गुरु न होकर हन्ता है। ऐसे गुरु के वेष में ब्रह्मा अथवा यम का ही आगमन समझो। वह मुमुक्षु को मुक्ति प्रदान करने के स्थान पर उसके बन्धनों को ही पुष्ट करता है।

१४. **प्रश्न**- गीता का उपदेश क्या कर्म करने के लिए किया गया था? शान्त रहने पर कर्म किस प्रकार सम्भव होगा?

महर्षि-श्री कृष्ण ने कहा है कि युद्ध करने वाले अथवा न करने वाले तुम हो कौन? जब तक तुम कर्त्ता-भाव को निवृत्त नहीं करोगे, तब तक तुम्हें कर्म तो करना ही होगा। आत्मा में संस्थिति ही गीता के उपदेश का सार है। यदि मनुष्य आत्मा में स्थिति है, तो संशय-उदय नहीं होंगे।

पहले यह जानना है कि कर्म क्या है? किस विषय का है ? तथा कर्त्ता कौन है? यह विचार और तथ्यान्वेषण करने के लिए मनुष्य को शान्त रहना अनिवार्य होता है, तो भी आवश्यक कर्म होते रहते हैं। यह देखो कि यह जिज्ञासा किस में है? कौन कर रहा है? आत्मा हो या अन्य कोई ? क्या आत्मा का कर्मों से कोई प्रयोजन है।

१५. **प्रश्न**- क्या कोई संसार में रहकर भी आध्यात्मिक साधना कर सकता है ? क्या संसार बाधक नहीं है ? और अनेक धार्मिक ग्रन्थ त्याग का समर्थन नहीं करते?

महर्षि-निश्चय ही संसार में रहते हुए ही साधना की जाती है। संसार केवल तुम्हारे मन में है। संसार कभी नहीं कहता कि 'मैं संसार हूँ'। अन्यथा यह सदैव रहता और सुषुप्ति में भी रहता। आत्मा सदैव है, उसका अनात्मा से तादात्म्य न होना ही त्याग है। अविद्या के नष्ट होने पर अनात्मा नहीं रहता। यही वास्तविक त्याग है।

१६. **प्रश्न**- तब आपने अपनी युवावस्था में गृह-त्याग क्यों किया ? क्या मुझे भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्याग नहीं करना चाहिए ?

महर्षि–वह मेरी नियति है। प्रत्येक व्यक्ति के इस जीवन के आचरण का क्रम उसकी नियति के अनुसार निश्चित होता है। यदि तुम्हारी नियति वैसी होती तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। त्याग स्वयं ही हो जाता।

१७. प्रश्न– जब व्यक्ति यह जान ले कि उसका सर्वोपरि कर्त्तव्य आत्मचिंतन है तो नैतिकता की दृष्टि से भी क्या उसे गृहस्थ के कर्त्तव्यों का परित्याग नहीं कर देना चाहिए?

महर्षि–त्याग करने की इच्छा ही बाधा है। आत्मा केवल है। आत्मा सर्वत्यागी है ही, अर्थात् आत्मा में अन्य कुछ है ही नहीं। त्याग के अभिमानी क्यों बनते हो? 'मैं कार्य करता हूँ'–यह भावना बाधा डालती है। विचार करो 'कौन कार्य करता है ?' स्मरण करो–'मैं कौन हूँ ?' तब कर्म तुम्हें नहीं बाँधेगा। वह स्वतः ही होता रहेगा। तुम्हारी चेष्टा ही बंधन है। न कार्य करने की चेष्टा करो, न कार्य त्यागने की। जो होना होगा, वह होगा ही।

१८. प्रश्न– फल-प्राप्ति की आकांक्षा से रहित होकर कर्म करने का निर्देश है, परन्तु यह मानसिक अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जाय?

महर्षि–किसी नई अवस्था को प्राप्त करने की इच्छा ही मत करो। वर्तमान विचारों से मुक्त हो जाओ। अन्य कुछ भी आवश्यक नहीं है।

१९. प्रश्न– वर्तमान अनुभव पूर्वकृत कर्मों के परिणाम हैं। यदि पूर्वकृत भूल का ज्ञान हो जाय तो हम उसका निराकरण कर सकते हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा?

महर्षि–एक भूल का निराकरण कर लेने पर भी सम्पूर्ण संचित कर्म रह जाते हैं जो अनेकानेक बंधनों में डालते हैं। जितनी पौधे की काट-छाँट करोगे, उतना वह तेजी से बढ़ेगा। उसी प्रकार कर्म का जितना संशोधन करोगे, वह उतना ही संचित होता जायेगा। कर्म के मूल को खोजो, उसका उच्छेद मत करो। कर्त्ता के स्वरूप को जान लोगे तो कर्मों का अन्त हो जायेगा।

२०. प्रश्न–क्या आत्म-साक्षात्कार के लिए संन्यास ग्रहण करना आवश्यक है? क्या संन्यासी संसार के मध्य रह सकता है?

महर्षि–अपने व्यक्तित्व का त्याग ही संन्यास है। जो अपने को संन्यासी मानता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, वह संन्यासी ही नहीं है। एक गृही अपने को गृहीं न माने तो वह संन्यासी है। जब तक व्यक्ति संसार का विचार नहीं करता, वह संसारी नहीं है। मन का जितना अधिक विस्तार होगा, वह उतना ही आत्म-साक्षात्कार से दूर होगा और उसके लिए आत्म-साक्षात्कार उतना ही कठिन हो जायेगा। मनुष्य को प्रत्यक्ष प्रक्रिया के द्वारा द्रष्टा को देखकर आत्म-साक्षात्कार कर लेना चाहिए। बाहरी दृश्यों के बारे में संगति लगाने से कोई लाभ न होगा। संन्यास के बारे में तुम क्यों जानना चाहते हो? अपने बारे में जान लो कि 'तुम कौन हो'।

जगत् और जगदीश्वर

२१. प्रश्न- विश्व-शान्ति के लिए क्या करना सबसे श्रेष्ठ है?

महर्षि-शान्ति-प्राप्ति से अभिप्राय विचार-शून्य होकर शुद्ध चेतना में रमण करना है। स्वयं शान्त रहने से सर्वत्र शान्ति प्रतीत होगी।

२२. प्रश्न- शुद्ध ब्रह्म ने ईश्वर का रूप धारण कर जगत् को क्यों व्यक्त किया?

महर्षि-तुमसे क्या ब्रह्म अथवा ईश्वर ने इस प्रकार कहा है? तुम्हारा ही कथन है कि ब्रह्म कुछ बना है या उसने बनाया है। 'सुषुप्ति में भी तुम ऐसा अनुभव नहीं करते। जाग्रत अवस्था द्रष्टा और दृश्य के द्वैत की अवस्था है, जो विचारों के उदय के कारण है। अतः ब्रह्म, ईश्वर तथा ब्रह्माण्ड-तुम्हारे विचारों की सृष्टि है। सृष्टि तुम्हारी कल्पना का ही रूप है। जगत् को देखते हुए मनुष्य स्वयं को नहीं देखता। आत्म-दर्शन रहते जगत् दिखाई नहीं देता। इसलिए आत्म-साक्षात्कार करो और यह प्रत्यक्ष कर लो कि सृष्टि हुई ही नहीं।

२३. प्रश्न- यदि जगत् स्वंप्न मात्र है तो इसका सत्य से सामञ्जस्य किस प्रकार हो?

महर्षि-आत्मा से इसके अविच्छिन्न ऐक्य के ज्ञान में ही सामञ्जस्य निहित है।

२४. प्रश्न- जब जीवात्मा तथा ब्रह्म एक हैं तो सृष्टि का क्या कारण है?

महर्षि-सृष्टि का उद्‌देश्य तुम्हारे पृथक् जीवत्व की भ्रान्ति का निरसन है। प्रश्न से प्रकट है कि तुम देहाध्यासग्रस्त हो। इसी से अपना तथा चतुर्दिक जगत् का अनुभव करते हो। तुम स्वयं को देह मानते हो। तुम्हारा मन और बुद्धि तुम्हारी भ्रान्ति के कारण है। सृष्टि तथा देह सहित पदार्थ जाग्रत अवस्था में ही भासित होते हैं, और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुषुप्ति में लुप्त हो जाते हैं। परन्तु इन समस्त अवस्थाओं में तुम अस्तित्व हो। उसी का अनुसन्धान करो; यही तुम्हारी आत्मा है।

२५. प्रश्न– क्या जगत को अनित्य समझना चाहिए? संसार के क्लेशों से मुक्त होने का क्या कोई उपाय है?

महर्षि–तुम जगत् को नित्य मानकर व्यवहार करते हो, इसलिए इस भ्रान्ति से मुक्त करने के लिए शास्त्रों में जगत् की अनित्यता का निरूपण किया है। स्वयं को नित्य जानकर ही ऐसा विचार करो; न कि जगत् पर अनित्यता का आरोप करके। जब तुम अपनी आत्मा का साक्षात कर लोगे, जिस पर यह समस्त दृश्य उदय-अस्त होते रहते हैं, तब क्या तुम इनमें राग-द्वेष कर पाओगे?

संसार के क्लेशों से छूटने का एक ही उपाय है कि किसी भी स्थिति में निज स्वरूपको ओझल न होने दिया जाय; 'कोऽहम्' के विचार द्वारा। यही परमानन्द है।

२६. प्रश्न– जब जगत् दुःखमय है तो आत्मवान् पुरुष जगत् के विचार में संलग्न क्यों रहता है?

महर्षि–क्या आत्मवान् तुमसे कहता है कि जगत् दुःखमय है। दुःख का अनुभव तभी तक होता है, जब तक बाह्य जगत् की अपने से भिन्नता बनी रहती है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि आत्मा अखण्ड और परिपूर्ण है, तब अनुभूति के लिए कौन और क्या शेष रहता हैं? जब ज्ञानियों से दुःख की निवृत्ति का उपाय पूछा जाता है, तब ज्ञानी अपने अनुभव के आधार पर बताता है कि आत्मानुभव ही दुःख से छुटकारे का उपाय है।

२७. प्रश्न– जगत् क्या है? जगत् की स्थिति के सुधार के लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है? क्या यह व्यवहारिक जगत् क्लेशमय है?

महर्षि–जगत् तुम में है अथवा तुमसे बाहर? क्या जगत् तुमसे आकर कहता है कि 'मै हूँ'? यदि तुम दुःख से मुक्त रहो तो तुम्हें कहीं भी दुःख नहीं दीखेगा। वर्तमान कष्ट का कारण तुम्हारा जगत् को बाहर देखना तथा इसमें दुःख है-ऐसी धारणा बनाना ही है। जगत् तथा दुःख-दोनों तुम में हैं। यदि तुम अन्तर्मुख हो जाओ तो कोई दुःख नहीं रहेगा। जहाँ से सीमित मैं का उदय होता है, वहीं से दृश्य भी उदय होते हैं। पहले द्रष्टा को जानो, फिर दृश्यों के सम्बन्ध में पूछो। दृश्य अपनी चिन्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वयं कर लेंगे। दृश्यों की अपेक्षा आत्मा अधिक अन्तरंग हैं।

२८. प्रश्न– जगत् अज्ञान से इतना आवृत क्यों है?

महर्षि–स्वयं की चिन्ता करो। जगत् को अपनी सम्हाल स्वयं करने दो। यदि तुम देह हो, तो स्थूल जगत् का अस्तित्व भी है। यदि तुम आत्मा हो, तो सब केवल आत्मा ही है।

२९. प्रश्न– उपनिषदों तथा पुराणों में सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन अलग-अलग है और अन्य विचारधाराओं में भिन्न प्रकार का है। इनमें से कौन-सा सत्य है?

महर्षि–सृष्टि की उत्पत्ति के जितने भी सिद्धान्त हैं, उन सबका विस्तार बाहर की ओर है। देश व काल असीम हैं, तो भी वे मन में ही हैं। मन को देखो, देश-काल से परे हो जाओ और आत्मा की अनुभूति करो। द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं दीखते। बाहरी दृश्यों का वर्णन करते हो जिनका कोई अन्त नहीं है। बाहर क्यों देखते हो?

३०. प्रश्न– जगद्गुरु शंकराचार्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उपदेश करते थे परन्तु अन्य लोग जगत् को सत्य स्वीकार करते हैं। आखिर सत्य क्या है? जगत् को मिथ्या कहने के बाद भी व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति संसार से ही करनी पड़ती है; अतः जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है?

महर्षि–एक होता है व्यवहारिक सत्य जो दैनिक जीवन से सम्बन्धित हैं, इसमें व्यवहारिक पदार्थों से सत्यवत् व्यवहार होता है। दूसरा प्रातिभासिक सत्य होता है जिसे भ्रम भी कहते है; जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। तीसरे को पारमार्थिक सत्य कहते हैं जो सदा एक रस अपरिवर्तनशील रहता है। यही तुम्हारी आत्मा है।

जैसे कोई मनुष्य स्वप्न की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वप्न की सृष्टि से करता है, वैसे ही स्वप्न की सृष्टि भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी की जाग्रत की सृष्टि। फिर भी इसे सत्य नहीं माना जा सकता। दृष्टान्तों का तात्पर्य सत्य को समझाने में होता है, न कि दृष्टान्त की वास्तविकता में।

३१. प्रश्न– आत्म-ज्ञान के पश्चात् भी क्या जगत् प्रतीत होता है? मेरी सुषुप्ति के समय क्या अन्य व्यक्तियों के लिए संसार नहीं रहता?

महर्षि–पहले द्रष्टा को ढूंढो। बाद में क्या होने वाला है, उसकी चिन्ता अभी क्यों? दृश्य देखने के लिए द्रष्टा होना जरूरी है। जगत् के भासित होने अथवा न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने का कोई महत्व नहीं है। जगत् के भासित होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी के दृष्टिकोण भिन्न होते हैं। चित्रपट के चित्रों को पकड़ने पर क्या पकड़ा गया? केवल पर्दा ही। चित्रों के समाप्त होने पर क्या बचा? वही पर्दा। संसार तुम्हारी इस बार पर हँसता है कि तुम स्वयं को जाने बिना उसे जानना चाहते हो। संसार तुम्हारे मन का परिणाम है। वस्तुतः संसार आत्मा से भिन्न नहीं है।

३२. प्रश्न– ईश्वर के विषय में आपका क्या मत है? ईश्वर का वर्णन किसलिए किया गया है? क्या हमें जगत्, जीव तथा ईश्वर के मूल तत्त्व की खोज करनी चाहिए?

महर्षि–ईश्वर के प्रति हमारी अवधारणा के पश्चात् ही ईश्वर के अस्तित्व का उदय होता है। पहले हम यह जानें कि वह किसकी धारणा है? सीमित 'मैं' की कल्पनाएँ हैं-जगत्-जीव और ईश्वर। गहन निद्रा में न सीमित अहं भाव रहता है और न ये रहते हैं; क्योंकि तुम जगत् को देखते हो और जानना चाहते हो कि वह कैसे उत्पन्न हुआ है, तब तुम्हें यह बताया जाता है कि तुमको और सब कुछ को ईश्वर ने बनाया है और उससे तुम्हारी बेचैनी कुछ कम हो जाती है। तुम यदि अपने को खोज लो तो तुम्हारे सारे संशयों का अन्त हो जायेगा। ब्रह्म को ही जगत के सन्दर्भ में ईश्वर कहा जाता है।

३३. प्रश्न– सच्चिदानन्द ईश्वर हमें इतनी कठिनाइयों में क्यों रखता है? यदि ईश्वर ही सब हुछ है, वही कर्मों का प्रेरक है, जीव केवल उसका यन्त्र है, तो व्यक्ति को कर्म का फल क्यों भोगना पड़ता है?

महर्षि–यह मिथ्या 'मैं' ही कहता है कि ईश्वर ने इसकी अथवा उसकी सृष्टि की है। जो वस्तुतः है, वह यह भी नहीं कहता कि 'मैं हूँ'। अपने निज अस्तित्व तथा साक्षात्कार के बारे में जानो। जो स्वयं को कर्त्ता मानता है, वही कष्ट भी भोगता है। यदि ईश्वर के कर्तृत्व को स्वीकार करके इस विश्वास को सदैव बना रहने दिया जाए, तब दुःख ही नहीं होगा। जब तक व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, तब तक दुःखानुभव से पीछा नहीं छूट सकता।

३४. प्रश्न– आत्मा कष्टपूर्ण सृष्टि के रूप में क्यों व्यक्त हुई है?

महर्षि–जिससे कि तुम आत्मा को प्राप्त करो। तुम्हारे चक्षु स्वयं को नहीं देख सकते, उनसे सामने दर्पण रखने पर ही वे स्वयं को देखते हैं। पहले स्वयं को देखो, तदुपरान्त समस्त सृष्टि को आत्मरूप देखो। ईश्वर से पृथक व्याप्त होने को काई 'सर्व'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है ही नहीं। केवल उसकी सत्ता है।

३५. प्रश्न- सत्य तथा कल्पित- दोनों एक ही हैं-यह कैसे? क्या आत्मा में विलीन होने तक नानात्व बना रहेगा?

महर्षि-ब्रह्म सत्य है, जगत् कल्पित है, ब्रह्म ही जगत् है- इसका क्या अर्थ हुआ? आत्मरूप से दृश्य पदार्थ सत्य है और आत्मा से पृथक् कल्पित हैं। अतः आत्मा ही वास्तविकता है। यदि जगत् भासित होता है तो किसको? तुम्हारा अनिवार्य उत्तर होगा कि आत्मा को। मृगतृष्णा के जल को, मृगतृष्णा का जल समझ लेने के पश्चात् भी वह अदृश्य नहीं होता। मनुष्य दृश्य तो देखता है, किन्तु जल के लिए उसकी ओर दौड़ता नहीं है। क्या हम अभी आत्मा से एक नहीं हैं। संसार तथा हम सभी आत्मा में ही हैं।

३६. प्रश्न- विभिन्न विचारधाराओं वाले दर्शन-शास्त्र क्या सत्य के विषय में ठीक-ठीक दृष्टि देते हैं?

महर्षि-क्या उनकी पेचीदा भूलभुलैयाँ विषय को स्पष्ट करती हैं और सत्य को प्रकट करती हैं ? वास्तव में वे भ्रम ही उत्पन्न करते हैं। किसी भी वस्तु को जानने के लिए आत्मा का अनिवार्य होना आवश्यक है। आत्मा होकर क्यों नहीं रहते? अनात्मा की व्याख्या की क्या आवश्यकता है? यदि मैं इन दर्शनों को अपनाता तो सम्भवतः सदैव भ्रमित रहता। मेरी पूर्व वासनाएँ मुझे सीधे ही 'मैं कौन हूँ' की खोज पर ले गई। यह सचमुच सौभाग्यपूर्ण था।

३७. प्रश्न- क्या ईश्वर की कोई मर्यादाएँ हैं? क्या आप मृत्यु को सर्वोच्च अवस्था मानते हैं?

महर्षि-ईश्वर को अलग रखो। तुम्हारी सुषप्ति में तुम्हारी आत्मा की कौन-सी मर्यादाएँ थीं ? हाँ! मृत्यु सर्वोच्च अवस्था है। हम मृत्यु में ही रह रहे हैं। जिन्होंने असीम आत्मा को सीमित कर दिया है, उन्होंने इस प्रकार की सीमाएँ बनाकर आत्महत्या ही की है।

३८. प्रश्न- मुझे दो बार शिव के क्षणिक दर्शन हुए हैं, तथापि वे आनन्दपूर्ण है। कृपया बताएँ कि शिव का दर्शन किस प्रकार सतत अविच्छिन्न हो?

महर्षि-जो प्रकट होगा, वह अदृश्य भी होगा। दर्शन नित्य नहीं हो सकता, किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिव नित्य है। शिव द्रष्टा और दृश्य-दोनों हैं। शिव का साक्षात्कार इसी क्षण और यहीं सम्भव है। यही आत्मा है। आँखों से स्वयं को प्रत्यक्ष न देख पाने पर भी क्या द्रष्टा अपने अस्तित्व को नकारने में समर्थ है? कदापि नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष का अर्थ दर्शन नहीं, अपितु अस्ति-'होना है'। 'होना' ही वास्तविक दर्शन है।

जन्म तथा माया

३६. प्रश्न- जन्म क्या है? क्या पुनर्जन्म होता है?

महर्षि-आत्मा से अहं की उत्पत्ति तथा अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति ही जन्म है। पुनर्जन्म सम्भव है तब, यदि तुम्हारा वर्तमान जन्म हुआ हो। जब तक देह को 'मैं' माना जाता है, जन्म सत्य है। आत्मा का न जन्म है, न मृत्यु। कुछ भी नया नहीं है। ज्ञानी आत्मा में ही सब कुछ और सब कुछ में आत्मा को ही देखते हैं। उसमें कोई भेद नहीं है। अतः न जन्म है, न मृत्यु।

४०. प्रश्न- जन्म-मृत्यु से कैसे छूटें?

महर्षि-मालूम करो कि जन्म किसका होता है तथा वर्तमान जीवन में दुःख कौन भोगता है? सुषप्ति में अहंकार नहीं रहता। अहंकार का जन्म ही व्यक्ति का जन्म कहा जाता है। जिसका जन्म है, उसी की मृत्यु अवश्वम्भावी है। अहंकार को मार दो। फिर मरने का भय नहीं रहेगा। अहंकार की मृत्यु के बाद भी आत्मा रहती है, यही आनन्द है, वास्तव में इसी बोध से हम पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं, यही अमरत्व है।

४१. प्रश्न- व्यक्ति के कर्म क्या उसके बाद के जन्मों पर प्रभाव नहीं डालते? क्या योगी अपने पूर्व जन्मों को जान सकता है?

महर्षि-क्या तुम अभी जन्मे हो? तुम दूसरे जन्मों की चिन्ता क्यों करते हो? यथार्थ में न तो जन्म है न मृत्यु। जो जन्मा हो, उसे मृत्यु से छूटने तथा शान्ति देने वाले साधनों पर विचार करने दो।

वर्तमान जीवन को जान लो, तो शेष स्वयं जान लोगे। तुम अपने वर्तमान सीमित ज्ञान से ही इतने दुःखी हो, तो फिर पूर्व जन्मों के बारे में जानकर अधिक दुःखी क्यों होना चाहते हो?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४२. प्रश्न- मृत्यु के कितने समय पश्चात् पुनर्जन्म होता है?

महर्षि-जन्म से पूर्व तुम थे, यह तुमको नहीं मालूम; तथापि तुम यह जानते हो कि अब तुम क्या हो? जन्म तथा पुनर्जन्म देह का होता है। तुम आत्मा को देह से मिला रहे हो- यह मिथ्या तादात्म्य है। जन्म तथा पुनर्जन्म की चर्चा केवल इसलिए की जाती है कि तुम इस पर गम्भीर विचार करो और यह जान लो कि न जन्म है और न पुनर्जन्म। जन्म और पुनर्जन्म अध्यारोपित हैं। अहं वृत्ति के उदय होने से पूर्व इन धारणाओं का अभाव था। सुषुप्ति से जागने पर और दृश्य जगत् को देखने से पूर्व जो एक जागृति की स्थिति है, वह तुम्हारा निज स्वरूप है। यह जानकर तुम संदेहों से अशान्त नहीं होगे।

देह तथा जन्म आत्मा के लिए नहीं हैं। यह उस अनात्मा के लिए हैं जो स्वयं को पृथक् मानता है। जब तक पृथक होने का भाव है, तब तक पीड़ा देने वाले संकल्प होते रहेंगे। यदि देह आत्मा से पृथक् नहीं है- ऐसा ज्ञान हो जाय तो कोई जन्म-मरण की शंका नहीं रहेगी।

४३. प्रश्न- माया क्या है? क्या माया भ्रम नहीं है?

महर्षि-माया किसको है? यह खोज लो तो माया का लोप हो जायेगा। वास्तव में जगत् में आसक्ति ही माया है। माया सत्य के ऐश्वर्य को प्रकट करती है। अतः माया भी सत्य से पृथक् नहीं है। मन सत्य से पृथक् है- यही ज्ञान माया है। मन सत्य से पृथक् नहीं है- यही ज्ञान माया की निवृत्ति है।

४४. प्रश्न- अविद्या का उदय कैसे हुआ और अज्ञान या माया की निवृत्ति का उपाय क्या है?

महर्षि-अविद्या कभी उदय नहीं हुई। इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वही केवल विद्या है। सोचो- माया का क्या स्वरूप है? 'मैं अज्ञानी हूँ'- यह कौन कहता है? इससे स्पष्ट है कि वह अवश्य ही अज्ञान का साक्षी है। वही तो तुम हो। यदि तुम शुद्ध आत्मरूप रहो तो अज्ञान अथवा अन्य किसी भी विषय की शंका नहीं रहेगी। भोक्ता, भोग्य और भोग के चंगुल में प्रायः सभी फँसे हैं। यह इस भ्रान्त धारणा का परिणाम है कि भोग्य वस्तु वास्तविक है। माया के मूल में अहंकार, जगत् और ईश्वर कल्पित किये गये हैं। इन्हें यदि आत्मा से पृथक् न माना जाय तो माया रहेगी ही नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४५. प्रश्न– 'मैं' की कभी मृत्यु नहीं होती अतः वह प्रश्न नहीं करता। फिर मृत्यु किसकी होती है ? प्रश्न कौन करता है ?

महर्षि–मृत्यु एक संकल्प है, और कुछ नहीं। जो संकल्प करता है, वही क्लेशों को जन्म देता है। वास्तविक 'मैं' मौन है। व्यक्ति को 'मैं' यह हूँ-'मैं यह नहीं हूँ' का विचार नहीं करना चाहिए। 'यह' अथवा 'वह' कहना मिथ्या है। ये सब सीमाएँ ही हैं। केवल 'मैं हूँ' अर्थात् केवल अस्तित्व ही सत्य है।

भक्ति और समर्पण

४६. प्रश्न– भक्ति क्या है?

महर्षि–जहाँ तक 'विभक्ति' है, वहाँ तक भक्ति की आवश्यकता होगी, वियोग है तो योग की। अर्थात् जब तक द्वैत है, तभी तक ईश्वर और भक्त का व्यवहार भी है भक्ति में इष्ट की प्राप्ति के उपरान्त केवल ऐक्य है। योग और प्रपत्ति (आत्म समर्पण)-ये दोनों भी एक ही हैं। दोनों साधनों के अन्त में अपना अलग व्यक्तित्व समाप्त करना ही होता है।

आत्मा के इतर जो भी विचार है, उनसे मुक्त होना ही भक्ति प्राप्त करना है। भक्ति तो स्वरूप में रहना है। विचार शून्यता भक्ति है। यहि मुक्ति है, जो कि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। शाश्वत, अखण्ड, सहज अवस्था ज्ञान है। क्या इसमें आत्मा का प्रेम ध्वनित नहीं होता? क्या यह भक्ति नहीं है?

४७. प्रश्न– समर्पण क्या है? वह किस प्रकार करें?

महर्षि–समर्पण का अभिप्राय है- अपने अस्तित्व के मूल स्रोत में स्वयं को दे देना । अहँकार का मूल स्रोत में विलय होना ही समर्पण है। यह मूल स्रोत तुमसे बारह किसी ईश्वर में है- ऐसी कल्पना करके अपने को भ्रम में मत डालो। स्वयं का मूल स्रोत स्वयं में ही है। स्वयं को इसके प्रति समर्पित कर दो। तुम स्वयं को इससे बाहर मानते हो, इसलिए प्रश्न उठाते हो कि 'मूल स्रोत कहाँ है?'

यदि कोई अपने आपको समर्पित कर देता है तो प्रश्न करने के लिए अथवा संकल्प करने के लिए कोई नहीं रहता । अहं भाव रूप संकल्प के स्रोत को दृढ़ता से पकड़ लेना अथवा उसे उच्चतर शक्ति के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देना-यही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग हैं। दोनों से ही संकल्पों का निरसन हो जाता है।

४८. प्रश्न– जीवन्मुक्ति क्या है?

महर्षि–जरा सोचिये तो कि १६०००० गोपियों से समावृत्त कृष्ण किस प्रकार ब्रह्मचारी हैं ! ऐसा है जीवन्मुक्ति का रहस्य ? जीवन्मुक्त वह है जो आत्मा से पृथक् अन्य किसी वस्तु का अनुभव ही न करे।

४९. प्रश्न– शिव क्या है ?

महर्षि–'मैं हूँ' यही शिव है। बिना शिव के कुछ भी सम्भव नहीं। प्रत्येक वस्तु की सत्ता शिव में है तथा शिव के प्रसाद से है।

५०. प्रश्न– ईश्वर क्या है ?

महर्षि–ईश्वर को जाने दो। स्वयं के सम्बन्ध में बताओ। ईश्वर से तुम अनभिज्ञ हो। वह तुम्हारी कल्पना का रूप ही तो है। वह क्या तुमसे पृथक है ? ईश्वर वह शुद्ध चेतना है जिसमें समस्त विचार उत्पन्न होते हैं। वह चेतना तुम ही हो।

५१. प्रश्न– मैं आपका अनुग्रह कैसे प्राप्त करूँ? अपने आपको आत्मा के प्रति समर्पित करने का क्या अभिप्राय है?

महर्षि–अनुग्रह तुम्हारे अन्दर है। यदि अनुग्रह बाहर हो तो वह वृथा है। अनुग्रह सदैव है और वह आत्मा ही है। जिसके अनुग्रह की इच्छा है, उसी प्रति समर्पित होना चाहिए। ईश्वर, गुरु तथा आत्मा-एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप हैं। जब तक तुम अपने को जीव मानते हो, तभी तक तुम ईश्वर में आस्था रखते हो। ईश्वर की उपासना करने पर ईश्वर गुरु रूप में प्रकट होता है। गुरु के ज्ञान का ध्यान करने से, वह आत्मा के रूप में प्रकट हो जाता है। यही प्रक्रिया है।

मन, विचार और उनका निरोध

५२. प्रश्न– मानसिक भ्रान्ति तथा मन की चंचलता कैसे निवृत्त करें? मनोनाश कैसे हो? मन से मुक्ति, मन का नियन्त्रण, मानसिक शान्ति, मन की एकाग्रता तथा अन्तर्मुखता कैसे प्राप्त हो?

महर्षि–यदि मन भ्रमित हो तो तुरन्त अपने आप से यह प्रश्न करो कि 'यह भ्रान्त संकल्प किसमें उत्पन्न हो रहे हैं'। यह खोज पुनः तुम्हें तत्क्षण आत्मभाव तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ले जायेगी। पहले यह देखो कि मन है भी या नहीं? जिसे तुम मन कहते हो, वह भ्रान्ति है। मन का अस्तित्व मानना धोखा है। तुम मन नहीं हो, तुम नित्य हो। यदि मन के स्रोत की खोज लो तो वह नष्ट हो जायेगा और शुद्ध आत्मा शेष रहेगी। मन पर शासन करने का यही उपाय है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जैसा तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है, वैसे रहो। फिर मन विषयक प्रश्न समाप्त हो जायेंगे। वस्तुतः जो अस्तित्व है, उसकी तुमने उपेक्षा क़र दी है। इसी से मिथ्या मन का निरोध करना चाहते हो। मन संकल्पों के नाश के साथ ही इसका भी लोप हो जाता है। तभी सच्ची अन्तर्मुखता आती है। दृश्य पदार्थों की सत्ता को मानने से संकल्पों का उदय होता रहता है। इसी कारण मन की एकाग्रता जो कि वास्तव में उसका स्वरूप है, खण्डित होती रहती है। बाहरी दृश्य- जगत् क्षणभंगुर एवं दुःखरूप है- ऐसा चिन्तन करने से वैराग्य होगा। अतः सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण प्रयास आत्म-विचार का है, जो निरन्तर और सहज होना चाहिए। तब आत्म-निरीक्षण तथा एकाग्रता स्वाभाविक हो जाते हैं। तुम्हें केवल बाहरी सम्पर्क से अलग होना है। मन के उपशान्त होते ही आत्म-निष्ठा समाधि रूप हो जाती है।

५३. प्रश्न- पश्चिम के विचारक मन को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानते हैं, जबकि पूर्व के विचारक नहीं। ऐसा क्यों?

महर्षि-जहाँ मनोविज्ञान समाप्त होता है, वहाँ से दर्शन का प्रारम्भ होता है। मन की उत्पत्ति को हम देखते हैं, मन के बिना भी हमारी सत्ता है। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव इसमें प्रमाण है, परन्तु मन मस्तिष्क से उत्पन्न होता है- यह ठीक नहीं है; क्योंकि मस्तिष्क शरीर में है। मैं कहता हूँ- देह ही मन की कल्पना है। मन ही देह को उत्पन्न करता है तथा उसमें मस्तिष्क का निर्माण करता है और यह भी निश्चय करता है कि इसका स्थान मस्तिष्क है।

५४. प्रश्न- जप से मूल को खोजने का क्या आशय है?

महर्षि-यह सब केवल मानसिक कल्पनाएँ है। जप मन को एक विचार पर ठहराने में सहायता करता है! जब जप मानसिक हो जाता है, तब इसे ध्यान कहते हैं। चूँकि यह प्रयास से प्राप्त होता है, इसीलिए इसे ध्यान कहा जाता है। जब तक व्यर्थ के संकल्प होते हैं, प्रयास आवश्यक है। यदि ध्यान बिना प्रयास के सहज हो जाय, तो वह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५५. प्रश्न– प्राणायाम से मूल की खोज कैसे करें ?

महर्षि–प्राणायाम की साधना करते समय मन से जागरूक रहने की सावधानी रखो तथा 'मैं'-भाव को ध्यान में रख इसके मूल को खोजो। तब तुम्हें बोध होगा कि जहाँ श्वास लीन होती है वहीं से 'मैं' का भाव उदित होता है। इसका उदय तथा अस्त साथ ही होता है। 'मैं'-भाव भी श्वास के साथ ही लय हो जायगा। इसके साथ ही दूसरा अनन्त ज्योतिर्मय 'मैं' अभिव्यक्त होगा जो कि नित्य एवं निरन्तर रहेगा। यही लक्ष्य है। इसके अनेक नाम है-ईश्वर, आत्मा, कुण्डलिनी शक्ति, चैतन्य, योग, भक्ति, ज्ञान आदि।

५६. प्रश्न– निरन्तर प्रयास के उपरान्त भी मन अन्तर्मुखी क्यों नहीं हो पाता ?

महर्षि–यह अभ्यास तथा वैराग्य से होता है तथा क्रमशः होता है। मन दूसरों के खेत पर चोरी से चरने की बहुत दिनों से आदी गाय के समान स्वतः अपने ठाँव पर आसानी से नहीं आ पाता। गो-पालक कितना ही स्वादिष्ट चारा, दाना देकर उसे लुभाये, गाय आरम्भ में आकृष्ट नहीं होगी। फिर वह किंचित अंश ग्रहण करेगी। किन्तु उसका भटकने का स्वभाव बना रहता है, और वह भाग जाती है। बारम्बार लुभाये जाने पर भटकेगी। मन के साथ भी ऐसा ही है। यदि यह एक बार आन्तरिक आनन्द प्राप्त कर ले फिर वह बाहर नहीं भटकेगा।

५७. प्रश्न– तो क्या मुझे अपने विचारों के मूल स्रोत की खोज करनी चाहिए या केवल इसे बुद्धि से समझना पर्याप्त होगा?

महर्षि–निश्चित ही मूलानुसन्धान से विचार लुप्त हो जायेंगे और तुम शेष रह जाओगे। अन्दर और बाहर का भेद तो सीमित अहं से ही उदय होता है। यदि तुम विचारों के वशीभूत हो गये तो वे तुम्हें भूलभुलैयाँ में फँसा देंगे। आत्मा तक पहुँचने के लिए बुद्धि को भी लुप्त होना पड़ता है। समझ की आवश्यकता एक सीमा तक ही है, परन्तु अन्तिम नहीं है।

५८. प्रश्न– क्या हम बिना मन के विचार कर सकते हैं?

महर्षि–वृत्ति को प्रायः भूल से चैतन्य मान लिया जाता है। वृत्ति दृश्य हैं। यह आभास के क्षेत्र में कार्य करती है। यथार्थ ज्ञान तो सापेक्ष ज्ञान एवं अज्ञान से परे है। यह वृत्ति के रूप में नहीं है। इसमें द्रष्टा-दृश्य भी नहीं हैं। वृत्ति मन का एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार है। तुम मन नहीं, उससे अतीत हो। विचारकर्त्ता का जान लेने से असत्य संकल्प लुप्त हो जायेंगे। इसमें कठिनता का भाव लाना साक्षात्कार में बाधक है। आत्मभाव से रहना कठिन नहीं है। साक्षात्कार की दिशा में उत्तम विचारों को भी लुप्त होना होगा। उत्तम विचारों या संकल्पों से आत्मा अधिक निकट है। संकल्पों और विचारों के नाश के लिए उनके आधार को खोजो। अहं भाव के मिटते ही सब मिट जायेगा। सारे संकल्प और विचार विचारकर्ता के निमित्त ही तो होते हैं। तुम विचारकर्त्ता के आत्मा हो-ऐसा अनुभव करते ही विचार और विचारकर्त्ता समाप्त। ऐसा अनुभव ध्यान तथा निदिध्यासन के द्वारा विचाररूप बाधाओं की निवृत्ति होने पर होगा। ध्यान और निदिध्यासन का अभ्यास विचारों के शमन के लिए होता है, न कि आत्मोपलब्धि के लिए। विचारों के उठते ही उनको शान्त करना चाहिए, न कि उनके साथ बहना। देह की चेतना तुम्हें तभी होती है, जब तुम आत्मा को विस्मृत कर देते हो। परन्तु स्वयं आत्मा होते हुए उसे कैसे भूल सकते हो?

५९. प्रश्न– क्या कोई स्वयं संकल्पों के साक्षी होने का अनुमान कर सकता है?

महर्षि–यह स्वाभाविक नहीं है, यह केवल मन को शान्त करने के लिए एक भावना मात्र है। आत्मा सदैव साक्षी है- ऐसी कल्पना करें अथवा न करें; आत्मभाव से रहना ही सर्वोत्तम है।

आनन्द और मोक्ष

६०. प्रश्न– आनन्द क्या है? आनन्दमय अवस्था क्या होती है और अपरिवर्तनशील आनन्दस्वरूप का बोध क्या है? इसका उदय कब होता है?

महर्षि–जब हमारी इच्छा की वस्तु अथवा उसकी स्मृति से हमारा सम्पर्क होता है और जब हमारा अनभीष्ट पदार्थों अथवा उनकी स्मृति से सम्पर्क हट जाता है, तब हम उसे आनन्द कहते हैं। परन्तु यह हर्ष है, क्योंकि यह सापेक्ष है। मनुष्य पूर्ण व स्थायी आनन्द चाहता है जो कि विषयों में नहीं हैं, परब्रह्म में है। यह सुख-दुःख से परे परम शान्ति रूप निरपेक्ष स्थिति है। आनन्द तुम्हारी सत्ता के अतिरिक्त और क्या है? तुम सत्ता से पृथक् नहीं हो, जो आनन्द ही है। यही तुम्हें जानना है। आत्मरूप रहो, तुम सर्वदा वही हो। यही तो आनन्द है। बिना प्रयास के जागरूक बने रहना ही आनन्द की अवस्था है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकल्पशून्य अवस्था जीव की सहज अवस्था है जो आनन्दमय है। संकल्प एक प्रकार से जगत् की सृष्टि करते हैं। उनके अभाव में न जगत् है, न जगत्-कर्त्ता ईश्वर। जीव को अपने मूल की या सहज अवस्था की पुनर्प्राप्ति के लिए खोज करनी पड़ेगी।

६१. प्रश्न- हमारा वास्तविक स्वरूप आनन्द है, यह कैसे? और यह पूर्ण आनन्द किस प्रकार प्राप्त हो?

महर्षि-पूर्ण आनन्द ही ब्रह्म है। यही आत्मा है, चेतन है। आत्मानुभव होने पर ही अर्थात् आत्मा के स्वतः प्रकाशित होने पर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द की इच्छा अपूर्णता के भाव से उत्पन्न होती है। अपूर्णता का भाव किसको है? खोजो। गहन निद्रा में तुम सानन्द थे। अब निरानन्द अवस्था के मध्य कौन-सी बाधा है? यह बाधा अहंकार है। इसके मूल को खोजो और जान लो कि तुम आनन्द हो। शान्ति तुम्हारा स्वरूप है। आत्मा को अनात्मा से मिलाने पर तुम अपने को भूल-से गये हो। इस भूल को मिटा दो तो निरन्तर स्मृति अर्थात् शान्ति बनी रहेगी। आनन्द की इच्छा क्यों होती है? क्योंकि वर्तमान अवस्था तुम्हारा स्वरूप नहीं है। भूल के कारण स्थूल देह से तादात्म्य हो गया है। देह मन की कल्पना है। स्वयं मन आत्मा से उदय होता है। बस, मिथ्या तादात्म्य को तोड़ो। शाश्वत और पूर्ण आनन्द तो अभिव्यक्त ही है।

६२. प्रश्न- अनन्त आनन्द के स्थिर रहने में क्या बाधाएँ हैं? स्वयं आनन्दस्वरूप होकर हम सुख की निरन्तर इच्छा क्यों करते हैं?

महर्षि-बाधाएँ तीन हैं- अज्ञान, संशय और भ्रान्ति। निज के शुद्ध अस्तित्व की विस्मृति, जो अनुभव हुआ, उस पर आश्चर्य कि वह सत्य का था अथवा असत्य का; एवं 'मैं देह हूँ'-यह विचार तथा जगत् को सत्य मानना।

सत्य का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने से तीनों बाधाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। आनन्द की इच्छा से मुक्त होना ही मोक्ष है और यही आनन्द की प्राप्ति भी है। आत्मभाव से रहना ही साक्षात्कार है। 'मैं वही हूँ' अथवा 'यह नहीं' का जप समय नष्ट करना है। आनन्द का अनुभव करने वाला तथा आनन्द-दानों चैतन्य में विलीन हो जाते है; क्योंकि चैतन्य का स्वरूप केवल आनन्द ही है।

६३. प्रश्न- जीवन में सुख-दुःख दोनों रहते हैं, परन्तु यह बताएँ कि किस स्थिति में आनन्द सदैव रहता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि–मन को अन्तर्मुखी कीजिए तो दुःखों से बच जाओगे जो व्यक्ति आत्मभाव से रहता है, वही सुखी है। यह खोजना ही एकमात्र अभ्यास है कि 'ये प्रश्न किसमें उदय हो रहे हैं'। देह से तादात्म्य तो बहिर्मुखी प्रवृत्ति और मन की चंचलता के कारण होता है। इस अवस्था में रहने से सदैव उलझन बनी रहेगी और शान्ति नहीं मिलगी। 'मैं अभी आनन्दरहित हूँ' इस भाव से मुक्त हो जाओ। अन्य वृत्तियों से निवृत्त होकर केवल एक ही वृत्ति में तन्मय रहो। निज सत्ता का विस्मरण न होना आनन्द की अनुभूति है।

६४. प्रश्न– काव्य, संगीत, जप, भजन आदि से सुख कैसे मिलता है?

महर्षि–इन सबसे भी जो सुख मिलता है, वह आत्मा का सहज सुख ही है। जिन क्षणों में तुम सुख मानते हो, उन क्षणों में तुम आत्मा में ही डूबते हो। यह डूबना स्वतः सिद्ध आनन्द को ही प्रकट करता है, यद्यपि अनजाने में डूबते हो। यदि ऐसा जानबूझकर डूबो, तो यही साक्षात्कार है जो कि वास्तविक आनन्द है। विचारों का संग इस आनन्द को अन्य वस्तुओं व घटनाओं पर आरोपित कर देता है।

६५. प्रश्न– मोक्ष क्या है? मोक्ष-प्राप्ति कैसे हो?

महर्षि–तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है– यह जानना ही मोक्ष है। शान्त रहो और जानो कि 'मै परमात्मा हूँ'। शान्त होने का तात्पर्य है– संकल्पों का न होना। जानना ही अभिप्रेत है, सोचना नहीं। चाहे तुम गृहस्थ हो या संन्यासी, उनका अभिमान ही मोक्ष में बाधक है।

साधन-चतुष्टय का अभिप्राय अहंकार की निवृत्ति में है। यह अहंकार ही विचार करने वाला और संशय करने वाला है। देखो! इस अहं का उदय कहाँ से होता है? वह शुद्ध चैतन्य है। यही आत्मा है, आनन्द और अमरत्व भी। आत्मा का ही नाम मोक्ष है।

६६. प्रश्न– क्या सब मुक्त अवस्था में है? मैं मुक्त होने में अपने को समर्थ नहीं देखता, कैसे करूँ?

महर्षि–सब है कहाँ? मुक्ति भी कहाँ है? यह तभी होगी, जब बन्धन होगा। वस्तुतः बन्धन है ही नहीं, अतः मुक्ति भी नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम्हें क्या असमर्थता है? क्या यह तुम्हारी सामर्थ्य में है कि तुम विचाररत होकर बंधन में रहो अथवा विचारमुक्त होकर मुक्त हो जाओ? विचारों के मूल को खोजकर इसे प्राप्त करो। अपने को देह से मिलाकर तुम अपने को सीमित अनुभव करते हो, इसीलिए असमर्थ मानते हो।

६७. प्रश्न- क्या निर्वाण और शुद्ध आत्म-चैतन्य का अनुभव एक ही वस्तु है?

महर्षि-निर्वाण पूर्णता है। पूर्णावस्था में न द्रष्टा है, न दृश्य। वहाँ न कुछ सोचने को है, न अनुभव करने को और न कुछ जानने को। निर्वाण में 'मैं हूँ' की आनन्दपूर्ण शुद्ध चेतना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह आत्म-चैतन्य ही है।

आत्मा का ही दूसरा नाम मुक्ति है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति की चर्चा केवल अज्ञानियों के लिए है। ज्ञानी को न मुक्ति का भान है, न बन्धन का। अज्ञान नष्ट करने के लिए बंधन-मुक्ति तथा मुक्ति के भेदों का शास्त्रों में विवरण है। अद्वैत ही वास्तविक मुक्ति है।

ब्रह्मानुसन्धान

६८. प्रश्न- आत्मा को कैसे जानें? क्या आत्मा से परमात्मा पृथक् है? आत्मा क्या है? 'मैं' को कैसे खोजें?

महर्षि-अपने अहंकार में मूल का अनुसंधान करो, आत्मा मिल जायेगी। 'मैं'-'मैं' सदैव है। इसे जानना नहीं है। यह कोई नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं करना है। तुम जो हो, वही रहो- यही आत्म-ज्ञान है। खोज आत्मा की नहीं होती, अनात्मा की होती है। अनात्मा को ढूँढने से वह मिलता नहीं और लुप्त हो जाता है। शेष अपना आत्मा सदैव स्वयं प्रत्यक्ष होने से अपने आप में प्रकाशित है। मिथ्या तादात्म्य के हटते ही आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। आत्मा को जानने का मतलब है- आत्मा होना । तुम सापेक्ष ज्ञान(वृत्ति ज्ञान) के इतने अभ्यस्त हो गये हो कि तुम स्वयं को उससे मिला लेते हो। इस प्रकार मिथ्या तादात्म्य आत्मा को स्पष्ट जानने में कठिनाई पैदा करता है।

अस्तित्व अर्थात् परमात्मा 'मैं' ही हूँ। सम्पूर्ण सत्य का यही सार है। संक्षेप में इसकी पद्धति है-'शान्त हो जाओ' अर्थात् देहभाव को नष्ट कर दो। यह धारणा छोड़ दो कि 'मैं ऐसा हूँ या वैसा। यदि परमात्मा आत्मा से भिन्न हो तो वह अनात्मा होगा। परमात्मा या आत्मा की परिभाषा कैसे की जा सकती है, जबकि वह कैवल्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, अस्तित्व मात्र है, ज्ञान-अज्ञान से परे है और सत्-असत् से भी विलक्षण है। तुम आत्मा से कितने पृथक् और दूर हो जिससे तुम उसका अनुसन्धान कर सको। क्या आत्मा से अधिक प्रत्यक्ष और कोई वस्तु हो सकती है-जिसका किसी इन्द्रिय की सहायता के बिना प्रतिक्षण अनुभव हो रहा है ? इन्द्रियानुभूमि तो अप्रत्यक्ष ज्ञान ही हो सकता है प्रत्यक्ष नहीं। केवल स्वयं की चेतना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है जैसा कि प्रत्येक का अनुभव है। व्यक्ति को स्वयं अपनी आत्मा को अर्थात् चेतन को जानने के लिए किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

एक निस्सीम, शाश्वत, पूर्ण अपने आपको 'मैं' के रूप में अनुभव करता है अर्थात् जान लेता है। यही इसकी मूल संज्ञा है। अन्य सभी संज्ञाएँ यथा 'ओउम्' बाद की उत्पत्ति हैं; आत्मा के भान का ही नाम मोक्ष है। महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' इसका प्रमाण है। यद्यपि 'मैं' की अनुभूति सदैव ही होती है फिर भी व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकर्षित कराया जाना आवश्यक है। केवल तभी ज्ञान का उदय होता है। इसी कारण उपनिषदों तथा ज्ञानी सन्तों की आवश्यकता है।

६८. प्रश्न- हमारे प्रयास करने पर भी आत्म-ज्ञान में कोई प्रगति नहीं हो रही है। मुझे तो यह अत्यन्त कठिन लगता है। 'मैं देह, मन, प्राण आदि नहीं हूँ- इतना तो समझ में आता है; इससे आगे नहीं बढ़ पाते। क्या करें?

महर्षि-देह जड़ होने से अपने को 'मैं' नहीं कहती। आत्मा अपरिमित होने से अपने को 'मैं' नहीं कहता। तब 'मैं' कौन कहता है? इसका पता लगाने का तरीका यह है कि इस 'मैं' का उदय कहाँ से होता है- इसको खोजना। तब इस 'मैं' का लोप हो जायेगा और अनन्त आत्मा शेष रहेगा। अतः यह स्वयं तुमको ही खोजना होगा। निषेध अर्थात् 'मैं' यह नहीं, मैं यह नहीं'-यह प्रक्रिया बौद्धिक है। जो समस्त अनात्मा को हटाती है। परन्तु वह अपने 'मैं' (अहंकार) का निरसन करने में असमर्थ है। यह अहंकार संकल्पों का कारण है। स्वयं से प्रश्न करो- 'मैं कौन हूँ?' इस खोज से सब नष्ट होकर शुद्ध आत्मा शेष रहेगी।

नवीन वस्तुओं की प्राप्ति में ही प्रगति की बात कही जाती है। आत्मानुसंधान में प्रगति की कोई अपेक्षा नहीं की जा सकती। तुम अभी आत्मा हो। 'मुझे साक्षात्कार नहीं है'- यही बाधा है तुम 'सत्य मैं' और 'मिथ्या मैं' की परीक्षा करो। बाधा को हटाना है। बाधा या 'मिथ्या मैं' के मूल को खोजोगे, तो उसका लोप हो जायेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसका उदय तथा अस्त है- वह 'मिथ्या में' है। जो अनादि एवं अनन्त है, वही सत्य तुम हो।

७०. प्रश्न- आत्म-विचार क्यों आवश्यक है? 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'ब्रह्मैवाहम्' में क्या अन्तर है? क्या यह श्रेयस्कर नहीं होगा कि 'मैं कौन हूँ?' की अपेक्षा 'मैं परब्रह्म हूँ।' कहा जाय; क्योंकि 'मैं' की खोज में कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता?

महर्षि-यदि तुम आत्म-विचार नहीं करोगे तो अनात्म-विचार चुपके से घुस जायेगा और अनर्थ यह होगा कि जो नहीं है, उसे पाने का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है, न कि उसे जो वास्तविकता है। आत्म-विचार से एक साथ दो कार्य सम्पन्न होते हैं-अनात्म-विचार की समाप्ति तथा वास्तविकता में स्थिति। देह और मन की उपयोगिता भी तभी तक है, जहाँ तक वे आत्म-साक्षात्कार में सहायक हों क्योंकि तुम कितना ही जान लो, बौद्धिक ज्ञान का कोई अन्त नहीं है। तुम संशयकर्त्ता की ओर नहीं देखते, अपितु संशयों को हल करना चाहते हो।

'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यक्ष अनुभव है, जबकि 'ब्रह्मैवाहम्' परोक्ष अनुभव। प्रथम तो अहं के साक्षात्कार के बाद होता है जबकि दूसरा, श्रवण किए हुए ब्रह्म से प्रारम्भ होता है, जो आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता यदि उसका साक्षात् हो गया हो।

'मैं परब्रह्म हूँ-इसकी पुष्टि कौन करता हैं? पुष्टि करने वाला कोई तो होगा, उसी की खोज करो। आत्मा होकर 'आत्म-साक्षात्कार कैसे करूँ'- यह पूछना अर्थहीन है। आत्मा के शरीर से मिथ्या तादात्म्य के कारण प्रश्न उदय होते हैं, जो कि अज्ञान है। इसके हटने के पश्चात् केवल आत्मा ही है।

तुम्हें स्वयं को देह तथा दृष्टि को नेत्र मानने का अभ्यास हो गया है, इसलिए तुम कहते हो कि 'मैं' की खोज में तुम कुछ नहीं देखते। द्रष्टा, दृश्य तथा दृष्टि-सब उसी चैतन्य अर्थात् निज अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। मन की एकाग्रता से ऐस भ्रम का निवारण होता है कि आत्मा दृश्यमान है, जबकि दृश्यमान अलग कुछ नहीं है।

७१. प्रश्न- अनात्मा क्या है? क्या 'अहम्' का अस्तित्व 'इदम्' के सन्दर्भ में ही है? यदि 'मैं' भ्रम है तो फिर भ्रम का निवारण कौन करेगा?

महर्षि-वास्तव में अनात्मा कुछ नहीं है। अनात्मा आत्मा के अन्तर्गत है। आत्मा ही अनात्मा की बात करता है; क्योंकि वह स्वयं को भूल चुका है। अपने आप की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पकड़ छूट जाने के कारण वह किसी वस्तु की अनात्मा के रूप में धारण करता है, जो वस्तुतः स्वयं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

जब तक 'अहम्' और 'इदम्' साथ-साथ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तभी तक सापेक्षता प्रतीत होती है। 'इदम' 'अहम्' में समर्पित है, उससे पृथक् नहीं। 'इदम्' को 'अहम्' में लीन होकर एकाकार होना होगा। तदुपरान्त जो 'अहम्' शेष रहेगा, वही वास्तविक 'अहम्' है।

'मैं'(आत्म भाव) ही 'मैं' (देह भाव) के भ्रम का निवारण करता है और फिर भी 'मैं' बना रहता है। आत्म-साक्षात्कार का ऐसा ही विरोधाभास है, परन्तु आत्मज्ञानी के लिए इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यदि तुम कहो-'मैं कौन हूँ?' की खोज अथवा 'मैं भाव' पर विचार भी तो विचार ही है, तब इस प्रक्रिया में विचार कैसे नष्ट होगा? इसका समाधान यह है कि वेद 'नेति-नेति' बड़े प्रभावशाली शब्दों में कहते हैं और फिर मौन हो जाते हैं। उनका मौन ही वास्तविक स्थिति है। जब 'मैं भाव' के स्रोत पर पहुँचते हैं, तब वह नष्ट हो जाता है और शेष रहता है केवल आत्मा।

७२. प्रश्न- क्या आत्मा और अहंकार एक ही है?

महर्षि-आत्मा अहंकार के बिना हो सकती है किन्तु अहंकार आत्मा के बिना नहीं हो सकता। वे बुदबुदे तथा सागर के समान हैं।

७३. प्रश्न- निज स्वरूप से 'अहम्' को किस प्रकार अलग देखें?

महर्षि-जिसका उदय तथा पतन है, वह 'अहम्' दृश्य मात्र है। जो अनादि एवं अनन्त है वही नित्य आत्म-चैतन्य है।

७४. प्रश्न- अहंकार कैसे नष्ट किया जाये ?

महर्षि-हम सुषुप्ति में देह तथा मन से सम्बद्ध हुए बिना रहते हैं। किन्तु अन्य दो अवस्थाओं (जाग्रत एवं स्वप्न) में हम इनसे सम्बद्ध रहते हैं। यदि हम देह से सम्बद्ध होते तो हम सुषुप्ति में बिना देह के कैसे रहते ? हम अपने आपको उससे अलग कर सकते हैं जो हम से बाहर है, न कि उससे जो हमसे अभिन्न है। इस प्रकार अहंकार शरीर से अभिन्न नहीं है। जाग्रत अवस्था में इसकी अनुभूति करना नितान्त आवश्यक है।

७५. प्रश्न- अहंकार का विसर्जन किस प्रकार होगा? क्या परम अवस्था का अनुभव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सबको समान रूप से होता है?

महर्षि–यह प्रश्न कौन कर रहा है? अहंकार ही तो। प्रश्न अहंकार के पोषण का निश्चित मार्ग है, न कि इसके ध्वंस का। अहंकार को खोजने का प्रयास करोगे तो जान लोगे कि इसका अस्तित्व है ही नहीं। नवीन वासनाएँ एकत्र करने से यह जीता रहता है।

परम् अवस्था एक ही है तथा अनुभव भी समान है। परम् सत्य की व्याख्याएँ मन द्वारा सम्पादित की जाती हैं। मन भाँति-भाँति का होने से व्याख्याओं में अन्तर हो सकता है।

७६. प्रश्न– क्या चेतना का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान है? परमात्मा की शक्ति का अनुभव किस प्रकार किया जा सकता है।

महर्षि–सूर्य का प्रकाश जड़ है। यह प्रकाश दृश्य पदार्थों को दृष्टिगोचर करता है तथा अन्धकार को दूर करता है। चेतन प्रकाश ऐसा है कि जो न केवल प्रकाश को अपितु अन्धकार को भी दृष्टिगोचर करता है। वह ऐसा शुद्ध ज्ञान है जिसमें ज्ञान तथा अज्ञान-दोनों प्रकाशित होते हैं।

तुम कहते हो- 'मैं हूँ', बस यही जानो। 'मैं हूँ'-यह अन्य कौन कहेगा? स्वयं की सत्ता ही परमात्मा की शक्ति है। समस्या तभी उत्पन्न होती है, जब कोई कहता है-'मैं अमुक हूँ अथाव अमुक'। ऐसा कुछ न करो। केवल निज स्वरूप में रहो। यही पर्याप्त है।

७७. प्रश्न– अहम्-स्फुरण क्या अर्थ है?

महर्षि–सुषुप्ति में 'मैं' का बोध नहीं होता। जागने पर 'मैं' का देह, जगत् तथा सर्व अनात्मा सें सम्मिलित बोध होता है। ऐसा सम्मिलित 'मैं' अहंवृत्ति है। जब 'अहम्' केवल आत्मा को निर्देशित करता है, तब यह अहम्-स्फुरणा है।

७८. प्रश्न– मुझे नित्य सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताने की कृपा करें।

महर्षि–तुम वही हो। क्या तुम कभी भी आत्मा से अलग रह सकते हो ? अपने आप रहने हेतु किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तुम सदैव वही हो।

७९. प्रश्न– यदि आत्मा को स्वयं का भान हो तो मुझे अभी भी उसका भान क्यों नहीं है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि–द्वैत नहीं है। तुम्हारा वर्तमान ज्ञान अहम् भाव के कारण है तथा सापेक्ष है। सापेक्ष ज्ञान में द्रष्टा एवं दृश्य का होना आवश्यक है। जबकि आत्मजाग्रति सहज है तथा उसे किसी दृश्य की आवश्यकता नहीं है। स्मरण भी इसी प्रकार सापेक्ष है। जहाँ द्रष्टा के रूप में स्मरण करने वाला होना चाहिए तथा दृश्य के रूप में स्मरण की जाने वाली वस्तु होनी चाहिए। जब द्वैत नहीं है, तो किसे कौन स्मरण करेगा? तुम वही हो।

८०. **प्रश्न**– आत्मा की अनुभूति कैसे करें ?

महर्षि–आत्मा अनुभूत ही है। इस सरल तथ्य को जानना आवश्यक है। बस इतना ही पर्याप्त है।

८१. **प्रश्न**– मैं आत्मा की पुष्टि चाहता हूँ।

महर्षि–तुम दूसरों से पुष्टि कराना चाहते हो। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को 'तुम' कहकर सम्बोधित किया जाता है, वह स्वयं को 'मैं' कहता है। पुष्टि केवल 'मैं' से है। 'तुम' कुछ भी नहीं है। सब 'मैं' के अन्तर्गत हैं। आत्मा को स्वीकार करने के पश्चात् ही अन्य का जानना सम्भव है। द्रष्टा के बिना अन्य का अस्तित्व नहीं हैं।

विविध प्रश्नोत्तर

८२. **प्रश्न**– समस्त शास्त्र किसके लिए हैं? वे 'मैं' के लिए नहीं हो सकते।

महर्षि–वास्तविक 'मैं' मौन है। व्यक्ति को "मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ" का विचार नहीं करता चाहिए। 'यह' अथवा 'वह' कहना मिथ्या है, क्योंकि यह सब सीमाएँ हैं। केवल 'मैं हूँ' अर्थात् केवल अस्तित्व ही सत्य है। 'मैं' की अनेकरूपता के कारण विचारों में संघर्ष होता है और परिणामस्वरूप इंतने अधिक मत-मतान्तर है। अनेकता मानसिक कल्पना से युक्त है। सत्य जैसा है, वैसा रहता है। इस पर पक्ष या विपक्ष के वक्तव्यों का प्रभाव नहीं पड़ता।

८३. **प्रश्न**– क्या विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा दर्शनों का अध्ययन अन्तर्बोध में सहायक है?

महर्षि–बहुत कम। केवल पुस्तक का ज्ञान बहुत उपयोगी नहीं है। साक्षात्कार के उपरान्त बौद्धिक ज्ञान वृथा भार मात्र है। 'अहम्' का भार दूर करना आवश्यक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा स्वाभाविक है। अनुभव केवल एक ही है। सांसारिक अनुभव तो मिथ्या 'मैं' के कारण है। संसार के सर्वाधिक सफल मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता कि वह कौन है? सारा सांसारिक ज्ञान ऐसी क्षुद्र नीवं पर आधारित है।

८४. प्रश्न- समय, द्वैत, अद्वैत, स्वर्ग, नरक, हृदय, मौन, वैराग्य, सूर्य मार्ग, नमस्कार और सुख-दुःख क्या है।

महर्षि-समय एक विचार मात्र है। अस्तित्व केवल सत्य का है। ज्ञानमार्ग का समय से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी ब्रह्म मुहर्त्त और सन्धिकाल उपयुक्त माने जाते हैं। देह भाव से युक्त होना द्वैत है। देह भाव से रहित होना अद्वैत है। स्वर्ग तथा नरक तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं। तुम्हारे काम-क्रोध ही इनके जनक हैं। वे स्वप्नतुल्य हैं। हृदय मानसिक केन्द्र का प्रतीक है, शारीरिक केन्द्र का नहीं।

वास्तव में मृत व्यक्ति ही सुखी है। वे इस कष्टदायक शरीर से छुटकारा पा जाते हैं। मृतक शोक नहीं करता। मनुष्य का अस्तित्व देह सहित अथवा देहरहित स्वयं सिद्ध है, जैसे जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था में। मनुष्य अमर्त्य आत्मा को खोज ले तो वह अमृत हो जाता है। लोग सरल, स्पष्ट सत्य को नहीं मसझ पाते; जबकि वह सत्य उनके दैनिक जीवन का है, नित्यसिद्ध है एवं नित्य अनुभूत है। उस आत्मा के सम्बन्ध में सुनना भी पसन्द नहीं करते और स्वर्ग-नरक आदि के सम्बन्ध में जानने का उत्सुक है; इसीलिए विविध धर्म उन्हें बहलाकर आत्मा तक घुमाकर लाते हैं। अन्त में आत्म-सत्य तक आना ही होगा। फिर अभी, यहीं आत्मा में क्यों न रहो?

मौन वह सहज अवस्था है जो अहंकार के नष्ट होने के उपरान्त स्वतः प्रकट होती है। अहंकार का त्याग ही वैराग्य है। केवल सम्पत्ति का त्याग ही नहीं; सम्पत्ति के स्वामी का भी त्याग आवश्यक है। व्यावहारिक जगत् के चलने की चिन्ता छोड़ो। पहले साक्षात् करो। साक्षात्कार के माध्यम से जो कल्याण होगा, वह शब्द, विचार तथा कर्म आदि की सहायता से परे होगा। जब स्त्रियाँ जल का पात्र सिर पर रखकर सखियों के साथ वार्तालाप करती हुई चलती रहती हैं, तो वे अत्यन्त सावधान होती हैं, उनका ध्यान सिर के भार पर एकाग्र रहता है। इसी प्रकार जब ज्ञानी से कर्म होता है तो उसे कोई बाधा नहीं होती, उसका मन ब्रह्म में स्थित होता है। इसी प्रकार वास्तविक मौन के पालन से व्यावहारिक कार्यों में बाधा नहीं पड़ती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रविमार्ग ज्ञान है। चन्द्रमार्ग योग है। ऐसा कहा जाता है कि देह की ७२,००० नाड़ियों को शुद्ध करने के उपरान्त सुषुम्ना में पहुँचकर मन सहस्रार तक जाता है, जहाँ अमृत का झरना बह रहा है। ये सब मानसिक कल्पनाएँ हैं। मनुष्य पहले से ही सांसारिक कल्पनाओं से घिरा हुआ है। फिर योग के रूप में अन्य कल्पनाओं को क्यों जोड़ा जाए? इन सबका एकमात्र लक्ष्य मनुष्य को कल्पनाओं से छुटकारा दिलाकर उसे संकल्पशून्य आत्म-चैतन्य में स्थित करना है। अतः सीधे मार्ग से ही जाना चाहिए।

नमस्कार अहंकार का शमन है और शमन अपने उद्गम में विलीन होना है। परमात्मा को ऊपरी ढंग से, जैसे घुटने टेककर उपासना करने, प्रणाम तथा साष्टांग दण्डवत करने से धोखा नहीं दिया जा सकता। वह देखता है कि यहाँ व्यक्तित्व है अथवा नहीं।

सुख-दुःख विचार मात्र हैं। वे हमारे अन्तर्गत हैं। हमारे समस्त अनुभव विचारों के अतिरिक्त और हैं ही क्या? यदि विचारों से मुक्त होकर सचेत रहो तो तुम पूर्ण पुरुष हो। जगत् में क्लेशों का होना सच्चे सुख की प्राप्ति की आकांक्षा उत्पन्न करने के लिए है। इस आकांक्षा के बिना आत्मानुसंधान किस प्रकार सफल होगा?

८५. प्रश्न– क्या विवाहित पुरुष आत्मसाक्षात्कार कर सकता है? एकान्त की कितनी आवश्यकता है? मनुष्य सरल ढंग से कैसे जीवन-यापन कर सकता है?

महर्षि–आत्मसाक्षात्कार तो मन की योग्यता का विषय है। एकान्त तो मनुष्य के मन में है। वासना में लिप्त रहने वाला व्यक्ति चाहे कहीं भी रहे, एकान्त प्राप्त नहीं कर सकता। वासनाओं से निर्लिप्त व्यक्ति सर्वदा एकान्त में ही है। मनुष्य तभी आनन्द से जी सकता है, जब वह यह जान ले कि उसे जीवन के लिए कुछ भी आवश्यक नहीं है।

८६. प्रश्न– उद्वेगों का क्या कारण है? इन पर संयम कैसे करें और इनकी पूर्णतया निवृत्ति कैसे होगी?

महर्षि–सुखेच्छा ही इनका कारण है। सुखेच्छा क्यों उदय होती है? क्योंकि तुम्हारा स्वभाव ही आनन्द है तथा यह स्वभाविक है कि तुम निज स्वभाव में रहो। सुख आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आत्मानुसन्धान कर उसी में अवस्थित रहो। पदार्थों के माध्यम से इसी आत्म सुख को अनुभव करना ही दुःख है- पराधीनता के कारण। काम-क्रोध आदि वासनाओं को अन्य समझकर युक्ति विशेष से उनका शमन करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रयास करोगे तो उनका आत्यान्तिक नाश नहीं होगा। उनके तात्कालिक निवृत्त होने की केवल भ्रान्ति ही होगी।

भय आदि वृत्तियाँ भी संकल्प मात्र हैं। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु हो, तभी तो भय होगा। अन्य को कौन देखता है? अहंकार के उदय से ही बाहर-भीतर और उसके पदार्थ दिखाई देते हैं।

८७. प्रश्न- सामाजिक सुधार, जगत् का कल्याण तथा विकास के सम्बन्ध में आपका क्या मत है?

महर्षि-अपने सुधार से समाज का सुधार स्वतः हो जाता है। अपने को अपने सुधार तक सीमित रखो, यही सब करें। आत्म साक्षात्कार द्वारा सन्त मानवता का बड़ा उपकार करते हैं। केवल आत्मा ही सत्य है; संसार तथा अन्य वस्तुएँ नहीं। आत्मज्ञानी पुरुष जगत् को अपने से भिन्न नहीं देखते। जब तुम 'आत्मा' कहते हो तो अनन्त का जिक्र करते हो और जब तुम 'पुरुष' कहते हो तो अर्थ को सीमिंत कर देते हो। वस्तुतः केवल अनन्त आत्मा ही है।

विकास एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होता है। जब भेद ही है, तो विकास कैसा? भगवद् गीता का प्रारम्भ 'न मैं था, न तुम थे, न ये राजा थे,' 'न ये जन्म लेते हैं, न मरते हैं' इत्यादि से हुआ है, परन्तु अर्जुन नहीं समझ सका; क्योंकि वह उनको भ्रमवश स्थूल देह ही समझ रहा था। जो भेद देख रहा है, उसी के लिए उपदेश है। इस उपदेश मे क्रम बताया जाता है, जो कि वास्तविक नहीं होता। अतः अनेक जन्मों का क्रम भी विकास नहीं है, अध्यारोप है। दर्शनों या सम्प्रदायों में क्रम एक अनुमान मात्र है। आत्मा प्रत्यक्ष है। उसका अनुभव करो और अनुमान छोड़ो। विकास-सोपान को कोई स्वीकार करते हैं, कोई नहीं। आत्मा निर्विरोध है। सबका इसी में तात्पर्य है।

तुम्हारी आत्मा द्वैत है अथवा अद्वैत? सभी सिद्धान्त आत्म समर्पण पर सहमत हैं। पहले इसे प्राप्त करलो, तब फिर किसका मत ठीक है अथवा नहीं- इसके निर्णय के लिए पर्याप्त समय रहेगा।

८८. प्रश्न- ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदों में परस्पर विरोधी मत हैं, क्या इससे वेदों की प्रामाणिकता में कमी नहीं आती?

महर्षि-विभिन्न ऋषियों ने भिन्न-भिन्न कालों में सत्य के विभिन्न पक्ष अनुभव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किए तथा प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से एक विशेष मत का प्रतिपादन किया। उनके परस्पर विरोधी विचारों से क्यों चिन्तित होते हो? वेदों का मुख्य उद्देश्य तो हमें अविनाशी आत्मा का ज्ञान कराना है तथा हम वही आत्मा हैं- यह दिखाना है। शेष सबको अर्थवाद मानो जो अज्ञानियों को वस्तु व पदार्थ की उत्पत्ति समझाने के लिए कहा गया है। देवता, ईश्वर अथवा विष्णु तथा उनके धाम कैलाश, वैकुण्ठ आदि उतने ही वास्तविक हैं जितने कि तुम इस शरीर में हो। गंगा तुम्हारे अन्दर है, इसी में स्नान करो। यह गंगा न तुम्हें शीत करती है, न कम्पन।

योगियों के चमत्कार भौतिक शरीर से सम्बन्धित हैं। तुम भौतिक नहीं हो। जो तुम नहीं हो, उसकी चिन्ता क्यों? यदि आत्मा में आकार होता, तो वह विषयों से प्रभावित होता। उसमें कोई आकार नहीं है, इसीलिए तो वह विषयों के सम्पर्क से मुक्त है।

८९. प्रश्न– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा तुरीय अवस्थाओं से क्या तात्पर्य है? द्रष्टा और दृश्य में क्या अन्तर हैं?

महर्षि–समस्त व्यापकता को जागृति कहते है, समस्त प्रकाश को स्वप्न कहते हैं, अनन्त को सुषुप्ति। तुरीय इन तीनों अवस्थाओं की पृष्ठभूमि है। यही आत्मा है। द्रष्टा और दृश्य का आधार कौन है? इसे खोज लो तो द्रष्टा और दृश्य का अन्तर ही नहीं, अपितु सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा।

'द्वैत' तथा 'अद्वैत' सापेक्ष शब्द हैं तो द्वैत की भावना पर आधारित हैं। 'मैं' ही अस्तित्व है। मन माया है सत्य मन से परे है। जब तक मन क्रियाशील है, तब तक द्वैत, माया आदि प्रतीत होते हैं। आत्मा की सत्, चित्, आनन्दरूपता यह प्रकट करती है कि परमात्मा असत्, जड़, दुःख नहीं हैं। हम दृश्य जगत् (असत्, जड़, दुःख) में रहते हैं, इसीलिए हमें आत्मा को सच्चिदानन्द कहना पड़ता है। जब आत्मा देहरहित हो जाता है, तब अन्य क्या रहता है? क्या तुम्हारी अपनी देह है? क्या सुषुप्ति में देह प्रतीत होती है? क्या उस समय तुमने जगत् की अनुभूति अपनी अथवा अन्य देहों द्वारा की थी? तो भी तुम अपने अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। जगत् को देखने के लिए द्रष्टा में सीमितपने की भ्रान्ति होना आवश्यक है। स्वरूपतः अनन्त द्रष्टा की दृष्टि में उसके सिवाय अन्य कुछ कैसे हो सकता है?

९०. प्रश्न– भूमा (परम चैतन्य) अनन्त है तथा मैं सीमित चेतन हूँ। क्या यह सही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है?

महर्षि-केवल भूमा (पूर्णता) की ही सत्ता है। वह अनन्त है। उसी में से सीमित चेतन उपाधि सहित उदय होता है। यह आभास अथवा बिम्ब है। इस व्यक्तिगत चेतन को परम चैतन्य में विलीन कर दो। बस यही करना है। भूमा ही सर्वोपरि है-यत्र नान्यत् पश्यति यत्र नान्यत श्रुणोति स भूमा (जहाँ उसे कोई दूसरा प्रतीत नहीं होता, सुनता कुछ नहीं, वही पूर्णता है)। इसकी परिभाषा तथा वर्णन नहीं हो सकता। यह यथावत है।

६१. प्रश्न- जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग क्या है ?

महर्षि-व्यक्ति ज्ञानी है अथवा अज्ञानी उसके अनुसार भेद होगा। ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा से परे अथवा भिन्न कुछ भी नहीं है। सब आत्मा में है। यह अनुमान मिथ्या है कि जगत् है, उसमें एक शरीर है तथा उस शरीर में तुम निवास करते हो। यदि सत्य जान लिया जाय, तो जगत् तथा उसके परे जो भी है केवल आत्मा में ही प्रतीत होगा। व्यक्ति की दृष्टि के अनुसार भिन्न दृष्टिकोण होता है। दृष्टि चक्षु से हैं। नेत्र कहीं एक केन्द्र में स्थित होंगे। यदि तुम स्थूल नेत्रों से देख रहे हो तो तुमको दूसरे भी स्थूल दीखेंगे। यदि नेत्र आत्मा हो जाएँ तो आत्मा के निस्सीम होने के कारण नेत्र भी निस्सीम हो जायेंगे। आत्मा से भिन्न दीखने को अन्य कुछ भी नहीं है।

६२. प्रश्न- सबसे बड़ा रहस्य क्या है?

महर्षि-इससे बढ़कर और कोई रहस्य नहीं है-कि स्वयं सत्यता होते हुए भी हम सत्यता प्राप्त करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि किसी वस्तु ने हमारी सत्यता को ढक लिया है और सत्यता को प्राप्त करने के लिए पहले इसको नष्ट करना आवश्यक है। यह हास्यास्पद है। एक दिन आयगा जब तुम भूतकाल में किये गये अपने प्रयासों पर स्वयं हँसोगे। जिस दिन तुम इस प्रकार हँसोगे वह आज ही और यहीं है।

६३. प्रश्न- भगवन् ! अहंकार का बन्धन कैसे ढीला हो ?

महर्षि-उसमें नवीन वासनाएँ एकत्रित न करने से।

६४. प्रश्न- बुद्ध का 'निर्वाण' क्या है ?

महर्षि-व्यक्तित्व की समाप्ति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९५. प्रश्न- केवल एक जो अस्तित्व में सत्य है वह केवल एक क्या है ?

महर्षि-वह एक केवल सत् है, अस्तित्व, जो जगत् रूप में भासता है, पदार्थ जो हम देखते हैं तथा हम स्वयं।

९६. प्रश्न- क्या "अहम् ब्रह्मास्मि" के जप की आवश्यकता है ?

महर्षि-जब केवल वास्तविक 'मैं' अवशेष रहेगा तब वह "अहम् ब्रह्मास्मि" नहीं कहेगा। क्या कोई व्यक्ति ऐसा कहता रहता है कि "मैं आदमी हूँ ?" जब तक उसे चुनौती न दी जाय वह क्यों कहेगा कि "मैं आदमी हूँ ?" क्या कभी कोई भूल से स्वयं को पशु मानता है, कि वह यह कहे कि "नहीं मैं पशु नहीं हूँ; मैं मनुष्य हूँ।" इसी प्रकार 'ब्रह्म' अथवा 'मैं' मात्र की सत्ता होने से इसे चुनौती देने वाला कोई नहीं। अतः "अहम् ब्रह्मास्मि" के जप की कोई आवश्यकता नहीं।

९७. प्रश्न- क्या महर्षि को हम पर करुणा आती है एवं हम पर अनुग्रह करेंगे।

महर्षि-तुम गले तक जल में डूबे हुए हो फिर भी जल के लिए व्याकुल हो। यह कहना ऐसा ही है जैसे जल में गले तक रहने वाले व्यक्ति को प्यास लगे अथवा जल में मीन को प्यास लगे अथवा स्वयं जल को ही प्यास लगे।

९८. प्रश्न-क्या 'मैं अस्तित्व हूँ' संकल्प नहीं है।

महर्षि-अहंकार शून्य 'मैं अस्तित्व हूँ' संकल्प नहीं है। यह साक्षात्कार है। 'मैं' का तात्पर्य तथा महत्त्व परमात्मा है। 'मैं अस्तित्व हूँ' का अनुभव है संकल्पशून्य हो रहना।

९९. प्रश्न- मौन क्या है?

महर्षि-मौन नित्य वाणी है; यह भाषा का अजस्र प्रवाह है। वार्ता से इसका प्रवाह भंग होता है। बोलना उस प्रवाह में बाधा डालना है। तार में विद्युत प्रवाहित होती है। इसके प्रवाह में रोक होने पर यह लैम्प बनकर दीप्त होती है अथवा पंखा बनकर घूमती है। तार में यह विद्युत-शक्ति होकर रहती है। इसी प्रकार मौन, भाषा का नित्य प्रवाह है जिसमें शब्द बाधा उत्पन्न करते हैं।

जो बोध वर्षों के वार्तालाप से सम्भव नहीं वह मौन से अथवा मौन की उपस्थिति में क्षणमात्र में सुलभ हो जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिणामूर्ति तथा उनके चार शिष्य। यह उच्चतम तथा अत्यन्त प्रभावशाली भाषा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१००. प्रश्न- महर्षि के सान्निध्य में शान्ति की अनुभूति होती है, जो किंचित काल तक स्थायी रहती है। यह शान्ति स्थायी क्यों नहीं होती ?

महर्षि-वह शान्ति ही वास्तविक स्वरूप है। विपरीत विचार केवल बाह्य हैं। यही यथार्थ भक्ति, यथार्थ योग एवं यथार्थ ज्ञान है। तुम कह सकते हो कि यह शान्ति अभ्यास से प्राप्त होती है। अभ्यास से भ्रान्त धारणा निकल जाती है। बस इतना ही है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप सदैव स्थिर रहता है।

१०१. प्रश्न- क्या एक ही है ?

महर्षि-"हाँ, केवल एक ही है........"। आगे कहा है, "यद्यपि यह एक ही है तथापि अपनी अद्भुत शक्ति से यह लघु बिन्दु 'मैं' (अहम् वृत्ति) पर प्रतिबिम्बित होता है जिसे अविद्या अथवा संचित सुप्त संस्कार भी कहते हैं; यह प्रतिबिम्बित प्रकाश सापेक्ष ज्ञान है।

यह मनुष्य के प्रारब्ध के अनुसार अन्तस्थ सुप्त संस्कारों को स्थूल जगत् के रूप में व्यक्त करता है एवं बाह्य स्थूल जगत् को सूक्ष्म अन्तस्थ संस्कारों के रूप में लौटा लेता है; इस शक्ति को सूक्ष्म स्तर पर मन तथा भौतिक स्तर पर मस्तिष्क कहा जाता है। यह मन अथवा मस्तिष्क उस शाश्वत अद्वितीय वस्तु के विस्तारक के रूप में कार्य करता है और उसे विस्तृत जगत् के रूप में प्रदर्शित करता है। जाग्रति तथा स्वप्न की अवस्थाओं में मन बहिर्मुखी रहता है तथा सुषुप्ति में अन्तर्मुखी रहता है; मन के माध्यम से परब्रह्म जाग्रति तथा स्वप्न की अवस्थाओं में अनेक रूपों में भासता प्रतीत होता तथा सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा आदि की दशा में वापस लौट आता है। अतः तुम केवल वही हो, एवं भिन्न नहीं हो सकते। कुछ भी परिवर्तन हो, तुम अद्वितीय वस्तु ही रहते हो; तुम्हारे अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

१०२. प्रश्न- तुरीय क्या है?

महर्षि-केवल तीन अवस्थाएँ हैं, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। तुरीय चतुर्थ नहीं है : यह समस्त घटनाओं का आधार है; केवल यही सत्य है; यही तुम्हारा वास्तविक अस्तित्व है। तीनों अवस्थाएँ इसी पर क्षणिक दृश्य की भाँति प्रकट हो केवल इसी में लीन हो जाती है। अतः वे मिथ्या हैं।

१०३. प्रश्न- स्फुरण क्या है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि–स्फुरण नित्य है। अहंकार अनित्य है : जब 'मैं' को केवल 'मैं' माना जाता है, यह आत्मा है; जब यह अपने निज स्वरूप से भटक जाता है और अपने को यह कहता है यह अहंकार है।

१०४. प्रश्न– क्या जीवनमुक्त के लिए भी प्रारब्ध है ?

महर्षि–किसी व्यक्ति का देहान्त हो गया हो तथा उसके तीन पत्नियाँ हों तो प्रश्न उठेगा "क्या उनमें से दो को तो विधवा की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु तीसरी को नहीं ?" सभी विधवा हैं। प्रारब्ध, आगामी तथा संचित के साथ भी ऐसा ही है। जब कोई कर्त्ता नहीं है तो इनमें से कोई भी और अधिक टिक नहीं सकता है।

१०५. प्रश्न– देह और आत्मा का क्या सम्बन्ध है ?

महर्षि–स्वर्ण एक आभूषण नहीं है तथापि आभूषण स्वर्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आभूषण किसी भी आकृति का हो तथा आभूषण कितने ही भिन्न हों, केवल एक सत्यता है, अर्थात् स्वर्ण। इसी प्रकार देह तथा आत्मा के बारे में भी है। अद्वितीय सद्वस्तु आत्मा ही है। स्वयं की देह से तादात्म्य करना और फिर भी आनन्द खोजना मगर की पीठ पर बैठकर नदी पार करने के समान है।

१०६. प्रश्न– क्या श्रीभगवान कृपया मेरा मार्गदर्शन करेंगे ?

महर्षि–तुम क्या प्राप्त करना चाहते हो ? हर व्यक्ति आनन्द की खोज में है। प्रतिदिन सुषुप्ति में सबको आनन्द प्राप्त है। वही आनन्द की अवस्था जाग्रत अवस्था में भी लाना है। बस इतना ही है।

१०७. प्रश्न– क्या श्रीभगवान अद्वैत का समर्थन करते हैं ?

महर्षि–द्वैत तथा अद्वैत सापेक्ष शब्द हैं। ये द्वैत की भावना पर आधारित हैं। आत्मा है जैसा है। वहाँ न द्वैत है, न अद्वैत। 'अस्तित्व ही मैं हूँ'। अस्तित्व ही आत्मा है।

१०८. प्रश्न– क्या जगत की सेवा किये बिना आत्म-साक्षात्कार में रमण स्वार्थपरता नहीं।

महर्षि–आत्मा सम्पूर्ण जगत को स्वयं में समाविष्ट किये हुए है तथा जगत से परे भी वह है। जगत आत्मा से पृथक अस्तित्व नहीं रखता। ऐसी आत्मा का साक्षात्कार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि स्वार्थपरता है तो इस स्वार्थपरता में सर्व जगत समाहित होगा।

१०९. प्रश्न– क्या जीवत्व अनादि नहीं है?

महर्षि–विचार करो तथा अनुभव करो कि जीवत्व है भी अथवा नहीं। नम्मलवर का कथन है : अज्ञानावस्था में मैंने अहंकार को स्व समझा; किन्तु सद्ज्ञान से अहंकार का लोप हो गया। अब केवल तुम ही आत्म रूप हो।"

११०. प्रश्न– क्या वासनाओं की पूर्ण तृप्ति के पश्चात् वासना-त्याग सम्भव है ?

महर्षि–क्या अग्नि पर स्पिरिट डाल कर उसे बुझाया जा सकता है जितनी ही वासनापूर्ति की जाती है उतने ही संस्कार गहरे और प्रबल होते जाते हैं।

ज्ञानी कौन है?

१११. प्रश्न– जीवन्मुक्त पुरुष कैसा होता है? ज्ञानी में क्या देहात्म बुद्धि नहीं होती? क्या अज्ञानी को वेदना का अनुभव नहीं होता?

महर्षि–जो आत्मा से पृथक अन्य किसी का अनुभव ही न करे, वही जीवन्मुक्त है। वह अनात्म ज्ञानी के समान बाह्य दृष्टि से रहता हुआ भी अपनी परिपूर्णता के आनन्द से समृद्ध रहता है। आप अपने को शरीर मानकर ही ज्ञानी के लक्षण पूछते हैं। ज्ञानी तो सबका आत्मा होता है। जाग्रत, समाधि आदि अज्ञानियों की अवस्थाएँ हैं। अन्य लोगों के सम्बन्ध में जानने से तुम्हें कोई लाभ न होगा, चाहे वे ज्ञानी ही क्यों न हों। ज्ञानी का मन केवल ज्ञानी ही जान सकता है। ज्ञानी को जानने के लिए स्वयं को भी ज्ञानी ही होना होगा। ज्ञानी सामान्य लोगों की समझ से परे होता है।

अज्ञानी अपने को केवल देह मानता है, जबकि ज्ञानी सब देहों को आत्मा से भिन्न नहीं मानता; वेदना को भी। उसके अनुसार न कोई जीवन्मुक्त है और न विदेहमुक्त। देह-चेतना के अभाव में शारीरिक पीड़ा नहीं हो सकती। मन को देह का भान न रहे तो देह के सुख-दुःख का भी भान न रहे । वेदनाएँ अहंकार पर आश्रित हैं। वाह्य रूप से ज्ञानी भिन्न भी प्रतीत होते हों, परन्तु उनके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता।

११२. प्रश्न– क्या आदि शंकराचार्य केवल विद्वान् मात्र थे, आत्मज्ञानी नहीं? क्या हम योगियों की तरह अन्तर्धान हो सकते हैं? आप भगवान् हैं। कृपया बताइये–'मुझे ज्ञान की प्राप्ति कब होगी'?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि-श्री शंकराचार्य के सम्बन्ध में क्यों चिन्ता करते हो, अपने स्वरूप का अनुभव करो। अन्तर्धान आदि सिद्धियाँ भौतिक विषय हैं। देहाभिमान का नाश ही मुख्य वस्तु है, देह-त्याग नहीं।

यदि मैं भगवान् हूँ तो आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और यदि मैं तुम्हारे समान हूँ तो मैं तुम्हारे जितना ही जानता हूँ। एक सुशिक्षित व्यक्ति को भी अशिक्षित ज्ञानी के समक्ष सिर झुकाना होगा। निरक्षरता अज्ञान है, शिक्षा पाण्डित्यपूर्ण अज्ञान है। दोनों ही अपने वास्तविक लक्ष्य से अनभिज्ञ हैं, जबकि ज्ञानी अनभिज्ञ नहीं हैं; क्योंकि उसके लिए कोई लक्ष्य नहीं है।

ज्ञानी के प्रारब्ध विषयक प्रश्न का उदय कहाँ से हुआ? यह प्रश्न जीवन्मुक्त का नहीं है। शास्त्रानुसार ज्ञान वह अग्नि है जो समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। देहात्म बुद्धि से परे होने पर न कर्त्ता रहता है, न भोक्ता। ऐसी स्थिति में प्रारब्ध कैसा?

अभ्यास, ध्यान एवं समाधि

११३. प्रश्न- अभ्यास क्या है? साधन की आवश्यकता कब तक है? हमें क्या अभ्यास करना चाहिए? अभ्यास का लक्ष्य क्या है?

महर्षि-'मैं' की निरन्तर खोज ही अभ्यास है। जो अहंभाव का मूल स्रोत है, उसी की खोज करो। शुद्ध 'मैं' ही सत्य है। उसको भूलने से ही सारे कष्ट और क्लेशों का जन्म होता है। सब कुछ आत्मा होने से कहीं भी जाना असंगत है। आत्माभ्यास में स्थित रहता ही एकान्त है। हमारे कर्म अथवा अकर्म से परे भी एक स्थिति है, जब तक वह स्थिति प्राप्त न हो, तब तक प्रयास करते रहना चाहिए। ज्ञानी के लिए संकल्प करना उतना ही कठिन है, जितना कि अज्ञानी के लिए संकल्पशून्य होना। जिसको समस्त संशय उत्पन्न होते हैं, उसी की खोज करना ही साधना है।

अभ्यास से संस्कारों का निवारण होता है। आत्म-विचार ही अभ्यास है यह मन को आत्मा में स्थिर करता है और स्थिरता ही शक्ति है। अभ्यास का लक्ष्य है-अज्ञान का निवारण; न कि साक्षात्कार। साक्षात्कार नित्य सिद्ध है, अभी और यहीं।

११४. प्रश्न- क्या श्रवण द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान स्थायी नहीं होता? शास्त्रों के अनुसार कोष क्या हैं? क्या चौबीसों घण्टे विचारशून्य होकर रहा जा सकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षि–श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष होने से स्थिर नहीं रहता। वह सत्य को बौद्धिक रूप से समझने से सहायक होता है मनन करने से स्पष्टतया समझ में आता है। निदिध्यासन से सत्य की अनुभूति होती है। स्पष्ट और अपरोक्ष ज्ञान ही दृढ़ होता है।

कोषों की चर्चा का अभिप्राय कोषों को त्यागने में है। कोषों को त्यागने का अर्थ अनात्मा को त्यागना नहीं है। अपितु आत्मा को जानना है, क्योंकि अनात्मा तो है ही नहीं। अहंभाव के उदय होते ही 'मैं' को मिथ्या रूप में देह, इंद्रिय तथा मन आदि से एक कर दिया जाता है। इन्हीं का कोष रूप से वर्णन है। समय तो एक कल्पना है, परन्तु कल्पनाओं का मूल सदैव कल्पनाओं से शून्य है।

११५. प्रश्न– 'नेति-नेति' से क्या अभिप्राय है?

महर्षि–अब आत्मा का देह, इंद्रिय आदि से मिथ्या तादात्म्य है। तुम इनको हटाना प्रारम्भ करो, यह नेति है। यह केवल मूल स्रोत को खोजकर, उस पर टिकने से ही होगा। 'नेति-नेति' ध्यान नहीं है, निषेध है।

११६. प्रश्न– ध्यान क्या है? ध्यान कैसे करें?

महर्षि–ध्यान का प्रायः यह आशय है कि किसी वस्तु पर अपने मन को एकाग्र करना; जबकि निदिध्यासन का अभिप्राय आत्मानुसन्धान अथवा आत्मविचार करना है। ध्यान में मुख्य विचार अन्य विचारों को दूर रखता है। ध्यान ईश्वर के किसी भी रूप पर या मन्त्र पर हो सकता है। संकल्पों को न आने देना ध्यान की रीति है।

'मैं हूँ'-यही लक्ष्य है तथा अन्तिम सत्य भी। प्रयास सहित इस पर टिकना ही विचार है। जब यह स्वतः और स्वाभाविक हो जाये, तो यही साक्षात्कार है। ध्यान में मानसिक आकृति-विशेष का भाव होता है; जबकि खोज परम् सत्य के लिए की जाती है। ध्यान अन्यनिष्ठ होता है और खोज आत्मनिष्ठ।

प्राण तथा मन एक ही स्रोत से उदय होते हैं। प्राणायाम से अथवा खोज से स्रोत तक पहुँचा जा सकता है। श्वास की गति पर जागरूक रहने से प्राणायाम हो जाता है। यदि मन को बाहरी दृश्य से हटाकर मन पर ही केन्द्रित किया जाय तो संकल्प नष्ट हो जायेंगे। उसका परिणाम होगा-शान्ति, जो कि तुम्हारा वास्तविक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूप है।

११७. प्रश्न– क्या मन को अन्तर्मुख करना पर्याप्त है अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' पर ध्यान केन्द्रित करना?

महर्षि–मन को अन्तर्मुख करना ही मुख्य वस्तु है। केवल अहंकार को नष्ट करना है। 'मैं ब्रह्म हूँ'– इस ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा में स्थित रहना ही सर्वोत्तम है। सभी योगों का तात्पर्य केवल अस्थायी कारण (अज्ञान) को हटाना मात्र है। यह नानात्व जिस आधार पर मालूम पड़ रहा है, पहले, उसे ज्ञात कर लो। 'अहम् ब्रह्मास्मि' विचार मात्र है। यह वाक्य कौन कहता है? स्वयं ब्रह्म तो ऐसा कहता नहीं। वास्तविक 'मैं' सदैव ब्रह्मभाव में स्थिर रहता है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' का तात्पर्य परिच्छिन्नता की निवृत्ति तथा स्वतःसिद्ध आत्मा को लक्षित कराने में है।

११८. प्रश्न– ध्यान किसका करें? सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान क्या कठिन है? ध्यान मन से होता है, तब मन को किस प्रकार समाप्त कर वह आत्मा को प्रकट करेगा?

महर्षि–ध्याता कौन है? पहले यह प्रश्न करो। ध्याता बने रहो, ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी। अभ्यास और वैराग्य द्वारा जब क्रमशः आनन्द प्राप्त होता है तब मन बाहर नहीं भटकता। यदि जप की प्रबल प्रवृत्ति हो तो मानसिक जप करना चाहिए, जो ध्यान के ही समान है। यदि रूप का ध्यान द्वैत प्रतीत होता हो तो सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान आत्मा के रूप में करो।

ध्यान में अहंकार रहता है और जिसका ध्यान करते हैं वह आकार रहता है। यह पद्धति परोक्ष है। अहंकार के स्रोत को खोजने से अहंकार लुप्त हो जाता है। जो अवशेष रहता है, वह आत्मा है। यह पद्धति प्रत्यक्ष है। सबसे पहले जड़-चेतन का भेद समझ लेना चाहिए और फिर केवल चेतन होकर रहना है। बाद में यह अनुभव करे कि जड़ तो चेतन से अलग ही नहीं है।

ध्यान का अर्थ है– एक संकल्प पर दृढ़ होना। मन की चंचलता उसकी दुर्बलता का सूचक है। निरन्तर ध्यान करने से मन सबल होता है अर्थात् मन के क्षणिक संकल्पों की दुर्बल वृत्ति के स्थान पर संकल्पों से मुक्त स्थायी पृष्ठभूमि बनने लगती है। यही शुद्ध मन है। शुद्ध मन आत्मा ही है। ध्यान यथार्थ में आत्म-निष्ठा है। तुम जो हो, वही रहो। यही ध्यान है और लक्ष्य भी। अभ्यास तथा वैराग्य से मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान में लग जाता है। विस्तारशील संकल्पों का अभाव वैराग्य है। केवल एक विचार पर एकाग्र होना अभ्यास है। ध्यान का एक विधेयात्मक पहलू है तथा दूसरा निषेधात्मक।

११९. प्रश्न– क्या व्यावहारिक कार्य करते हुए ध्यान करने से कार्य की क्षति नहीं होगी? मुझे तो ध्यान करते समय सिर में दर्द होने लगता है।

महर्षि–अपने को देह स्वीकार कर तुम्हें लगता है कि कार्य 'मैं करता हूँ।' परन्तु देह तथा उसकी चेष्टा कार्यसहित आत्मा से पृथक् नहीं है। तुम कार्य पर ध्यान दो या न दो- इसका महत्त्व नहीं है। मान लो कि तुम एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए चलते हो तो क्या तुम प्रत्येक पग पर ध्यान देते हो; तो भी कुछ समय बाद तुम गन्तव्य पर पहुँच जाते हो। चलचित्र में चलते हुए चित्र पर्दे को प्रभावित नहीं करते। द्रष्टा चित्र देखता है, किन्तु पर्दे की उपेक्षा करता है। मनुष्यों को कार्यों का भान होता है, आत्मा का नहीं। तथापि वह आत्मा से पृथक् नहीं है। जानकारी हो, न हो-क्रियाएँ होती रहेंगी।

ध्यान करने वाले और ध्यान को जब एक जान लोगे तो सिर में दर्द नहीं होगा। दर्द अपने से पृथक् दृष्टिगोचर तभी होता है, जब वृत्ति अन्तर्मुख नहीं होती। आकार का ध्यान आत्मा में अन्तर्मुख करता है और निराकार का ध्यान तुम्हें बतायेगा कि संसार आत्मा से पृथक् नहीं है।

१२०. प्रश्न– समाधि क्या है? ज्ञान में समाधि का क्या उपयोग है? समाधि कितने प्रकार की होती है?

महर्षि–अपना निज वास्तविक स्वरूप ही समाधि है। ज्ञानियों के ज्ञान तथा समाधि अवस्थाा में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल देखने वालों की दृष्टि में होता है। ध्यान से मन को वश करने में कठिन प्रयास करना पड़ता है, जबकि समाधि बिना प्रयास के होती है। सहज समाधि में मन आत्मा से एक होकर नष्ट हो जाता है, जबकि ध्यान में दृष्टि, प्राण, मन आदि की चंचलता से बाधा होती है।

वास्तविक सत्ता का ज्ञान समाधि में ही सम्भव है। जो उस अवस्था में सत्तावान् था, वही अब भी है। इसी पर दृढ़ रहो। समाधि का अभ्यास सहज समाधि तक करते रहो। तब कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। जब समाधि के स्वरूप और समाधि में जाने के मार्ग को जानने वाला नहीं रहता, तभी समाधि है। कर्मयोगी अथवा भक्त को भी आकृति विहीन आत्मरूप समाधि का अनुभव होना आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्य पर टिकना समाधि है। प्रयास सहित सत्य पर टिकना सविकल्प समाधि है। सत्य में विलीन होकर जगत् के बोध से रहित रहना निर्विकल्प समाधि है। अज्ञान में विलीन होकर जगत् के बोध से रहित रहना सुषुप्ति है। शुद्ध सहज अवस्था में बिना प्रयास के रहना सहज निर्विकल्प समाधि है। समाधि से तात्पर्य देहात्म बुद्धि से परे होना है।

१२१. प्रश्न– गहन निद्रा मुझे समाधि जैसी अवस्था लगती है। क्या मेरी यह धारणा सही है?

महर्षि–जाग्रत का 'मैं' ही यह प्रश्न कर रहा है, सुषुप्ति का 'मैं' नहीं, वास्तविक 'मैं'-इन अवस्थाओं में नहीं है, अपितु ये अवस्थाएँ उनमें हैं। समाधि मनुष्य की सहज अवस्था है यह तीनों अवस्थाओं की मूलाधार है। यदि तुम जाग्रत-निद्रा अवस्था, जो कि समाधि जैसी है, जाग्रत में प्राप्त कर लो, तो संशय उदय ही नहीं होंगे और वह अवस्था गहन निद्रा में भी बनी रहेगी। जब तक प्रारब्ध पूर्णतया नष्ट नहीं होगा, तब तक जीवन्मुक्त पुरुषों में भी शुद्ध अहंकार पुनः पुनः उत्पन्न रहेगा। कहा यह भी जाता है कि कुछ योगी दीर्घकाल तक निर्विकल्प समाधि में निमग्न रहते हैं।

साक्षात्कार

१२२. प्रश्न– मैं अपना सत्य और कर्त्तव्य जानना चाहता हूँ।

महर्षि–तुम्हारा अस्तित्व ही तुम्हारा तत्त्व (सत्य) है। अतत्त्व या असत्य में वृथा प्रयास न करो। अपने तत्त्व को जानने के बाद कर्त्तव्य का निर्धारण कर लेना। लक्ष्य बनाकर कोई स्थायी दृष्टिकोण नहीं मिलेगा। हम अहंकार सहित लक्ष्य पाना चाहते हैं, किन्तु लक्ष्य पहले से ही विद्यमान है। जब हम आत्मा को अहंकार, मन, शरीर मानने लगते हैं तो क्रमशः वही-वही हो जाते हैं। अहंकार तथा उसकी क्रियाशीलता पर ध्यान न देकर उसके पीछे जो प्रकाश है, उसको देखो।

१२३. प्रश्न– आत्म-साक्षात्कार क्या है? साक्षात्कार कैसे हो सकता है? 'मैं भगवान हूँ या पर ब्रह्म हूँ' का संकल्प साक्षात्कार में कितना सहायक है? साक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन, मिनदिध्यासन, स्वाध्याय या बुद्धि कितने सहायक हो सकते हैं?

महर्षि–आत्मा सर्वदा है। बस, आत्म-साक्षात्कार के मार्ग की बाधाओं को हटाना है। तुम्हीं आत्मा हो तथा वह साक्षात् भी है। इसमें फिर 'कार' के लिए अवकाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहाँ है ? क्या तुम यह मानते हो कि आत्माएँ दो हैं- एक साक्षात् करने वाली और दूसरी होने वाली ? वह असंगत है। आत्म-साक्षात्कार केवल अनात्म-निरसन ही है। तुम द्रष्टा हो, द्रष्टा रूप ही रहा। दूसरा कुछ है ही नहीं।

जो यहाँ और अभी विद्यमान है, उसी का साक्षात्कार करो। यह नवीन इसीलिए प्रतीत होता है कि पहले अविद्या से आवृत मालूम होता था। साक्षात्कार का अभिप्राय पूर्णता है। पूर्ण के ज्ञान का तात्पर्य है- असीम हो जाना। ऐसा कहना कि मैंने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, तो क्या तुम आत्मा से भिन्न हो?

तुम्हारा दृष्टिकोण बहिर्मुखी होने से तुम्हें आत्मा का दर्शन नहीं होता। दृष्टि को अन्तर्मुख कर गहरे में जाओ तो तुम आत्मा ही हो, न मन, न बुद्धि अथवा न 'मैं' की कल्पना। संकल्पशून्य हो जाना अथवा मन की शान्ति ही साक्षात्कार है। संकल्पों के अभाव का अर्थ शून्यता नहीं है। कोई ऐसा भी तो होगा, जिसे शून्यता का बोध हो। आत्मा को देखने के लिए अन्य की आवश्यकता इसलिए नहीं है; क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है, केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

पूर्ण आत्मा से अग्नि के समान एक चिन्गारी निकलती है जिसे 'अहंकार' कहते हैं। यह अहंभाव उदय होते ही किसी दृश्य से तादात्म्य कर लेता है यदि इस तादात्म्य की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया जाय तो वह शुद्ध रहता है और अपने मूल स्रोत (आत्मा) में विलीन हो जाता है। आत्मा के साक्षात्कार अथवा अनुभूति का अर्थ है- आत्मा होना। आत्म-साक्षात्कार का सम्बन्ध जिज्ञासा से है, आयु से नहीं। क्या तुम पूर्ण ब्रह्म से पृथक् हो? यदि उससे पृथक् हो तो क्या वह पूर्ण होगा? यदि पृथक् नहीं तो किसी प्रकार का प्रश्न कैसे उठेगा? यह बोध कि ब्रह्म पूर्ण है तथा तुम उससे पृथक् नहीं हो- यही अन्तिम है।

एक बार आत्म-प्राप्ति होने के बाद वह सदैव रहती है। इसमें विकास-क्रम नहीं हुआ करता। आत्म-साक्षात्कार सर्वोत्कृष्ट परोपकार है, क्योंकि अन्य कोई है ही नहीं। यदि अन्य दीखता है तो तुम अपने भ्रम से शरीर मान रहे हो। न कुछ सीखना है, न विचार-विमर्श करना। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि 'मैं हूँ'। भ्रम यह है कि 'मैं' देह है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का तात्पर्य स्थिति से है, मन की वृत्ति से नहीं। ब्रह्म आत्मा ही है- ऐसा अनुभव करो। साक्षात्कार ज्ञान ही है, किन्तु यह ज्ञान द्रष्टा-दृश्य के सम्बन्ध से भिन्न है। यह पूर्ण ज्ञान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम अहंकार को जानकार उसे नष्ट कर दो। वह वास्तविक न होने से स्वतः नष्ट हो जायेगा; यदि तुम उसके मूल का अनुसन्धान कर लो। साक्षात्कार में क्रम नहीं होता। देह का भान साक्षात्कार में इसलिए बाधक नहीं है; क्योंकि हम सदैव ही देह तथा मन से परे हैं। यदि देह को आत्मा मानते हो तो निश्चय ही वह बाधक रहेगा।

अनुभव करो 'मैं हूँ', न कि यह चिन्तन करो-'मैं हूँ'। निर्देश है-'जानो कि मैं ब्रह्म हूँ', न कि विचार करो कि 'मैं परब्रह्म हूँ'।

श्रवण से आत्मा की देहादि से तादात्म्य की भ्रान्ति दूर हो जाती है। परन्तु संस्कारों के नष्ट न होने के कारण श्रवण के बाद भी संतोष नहीं होता। मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान आत्मा है। निदिध्यासन से यह पहचान होती है कि आत्मा अनन्त एवं आनन्द है। इसे समाधि की अवस्था तक दृढ़ कर लेना चाहिए। केवल शास्त्र-अध्ययन से दृढ़ स्थिति प्राप्त नहीं होती। मन को निरन्तर पीछे हटाने के प्रयास से ही इसकी प्राप्ति होती है। मनन और निदिध्यासन वासनाओं के बीजों को भूनकर उन्हें निष्फल करने में बहुत सहायक है। स्वाध्याय तथा बुद्धि व्यक्ति में आध्यात्मिक भाव जाग्रत करने में उपयोगी है। यदि तुम यह अनुभव करते हो कि आत्म-साक्षात्कार के लिए मैं असमर्थ हूँ तो तुम स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दो। बस, वह प्रकट हो जायेगा।

१२४. प्रश्न- शून्य क्या है? क्या इस भौतिक शरीर को शून्य में लोप किया जा सकता है ?

महर्षि-शून्य कौन देखता है? जागरूकता ही शून्य को अनुभव कराती है। भौतिक शरीर को शून्य में लोप क्यों करना चाहते हो? क्या तुमसे यह शक्य नहीं है कि तुम यह जान लो कि तुम शरीर नहीं हो।

१२५. प्रश्न- ईश्वर का साक्षात्कार कैसे हो सकता है?

महर्षि-ईश्वर अज्ञात सत्ता है। इसके अतिरिक्त वह बाह्य है, जबकि आत्मा सदैव है और तुम स्वयं हो। जो तुम्हारे अन्दर है, उसे छोड़कर बाह्य की तलाश क्यों? यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति ईश्वरदर्शन भी करे और अपना जीवत्व भी बनाये रखे। द्रष्टा और दृश्य मिलते ही एक अखण्ड सत्ता बन जाते हैं। वस्तुत न ज्ञाता है,न ज्ञान और न ज्ञेय। सब एक परम शिव में लय हो जाते हैं। आत्म-साक्षात्कार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का लक्ष्य नहीं होता। आत्म-साक्षात्कार स्वयं सर्वोच्च लक्ष्य है तथा चरम उपलब्धि है। इतना ही नहीं, यह सर्वाधिक सरल भी है; क्योंकि अन्य विद्याओं के लिए तो ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की आवश्यकता होती है और इसमें त्रिपुटी का तनाव न होने से यह सुसुखम् है।

१२६.प्रश्न- मन आत्मा का विचार करने में समर्थ नहीं है और मन से ही उसका अनुभव किया जा सकता है-ऐसा कथन विरोधाभास है। 'मैं ही वास्तविक हूँ'-क्या इतना अनुभव पर्याप्त होगा? क्या सुषुप्ति आत्म-साक्षात्कार है?

महर्षि-सत्य अस्तित्व मात्र है। अन्य वस्तुएँ दृश्य मात्र हैं। नानात्व अस्तित्व का स्वभाव नहीं है। तुम मन में उदय होने वाले विविध दृश्यों के साथ लिप्त हो जाते हो और मन की पृष्ठभूमि को भुला देते हो। इसमें किसका दोष है? आत्मा का ज्ञान संकल्प शून्य तथा अन्तर्मुखी मन से होता है। तब मन स्वयं के स्रोत को देखकर वही हो जाता है। यह द्रष्टा के द्वारा दृश्य को देखने जैसा नहीं है। मन का खो जाना और आत्मा का प्रकाशित होना एक साथ घटित हो जाता है। जो वियोग में है, उसके लिए योग (ऐक्य) आवश्यक है। परमात्मा सगुण है या निर्गुण-यह जानने से पूर्व यह देख लो कि तुम गुण सहित हो या गुण रहित?

साक्षात्कार के साथ सारे संकल्प असंगत हैं। सही स्थिति तो यह है कि हम अपने सम्बन्ध में अन्य सब प्रकार के संकल्पों को छोड़ दें। संकल्प एक प्रक्षेप है। साक्षात्कार एक तथ्य है। 'मैं ही वास्तविक हूँ' या 'मैं चैतन्य हूँ'-यह तर्क का निष्कर्ष है या तुम्हारा सुदृढ़ निश्चय? निश्चय स्वविषय में आत्मरूप ही होगा, बौद्धिक अथवा तर्क से युक्त नहीं।

तुम ऐसे क्षण की कल्पना भी नहीं कर सकते जब तुम्हारा अस्तित्व नहीं होता अतः ऐसा कोई काल नहीं जब साक्षात्कार नहीं होता। सुषुप्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं है, आत्मा है। तुम साक्षात्कार की बात क्यों करते हो? ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा न हो अथवा जब आत्मा का साक्षात्कार न हो। उसके लिए सुषुप्ति ही क्यों चुनते हो? इस समय भी तुम्हें आत्मा का साक्षात्कार तो है ही। तुम यह तो स्वीकार करते ही हो कि 'मैं हूँ'। तुम स्वीकार करते हो कि सुषुप्ति में 'मैं था'। यह 'होनापना' ही तुम हो।

यदि तुम अन्य कार्यों में लगे बिना शान्त रह सको तो बहुत अच्छा है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि कार्यों में व्यस्त रहना पड़े तो आत्मसाक्षात्कार का प्रयास नहीं त्यागना चाहिए। शान्त मन ही परमात्मा है। मन आत्मा की गतिशील शक्तिमात्र है। जिसे सत्य का बोध है, उसके लिए न व्यावहारिकता है और न प्रतिभासिकता।

१२७. प्रश्न– मन में संशय उठते रहते हैं; ये कैसे समाप्त हो? पूर्ण में यह अपूर्णता कैसे आ गई अर्थात् परमात्मा सापेक्ष कैसे बना?

महर्षि–संशयकर्त्ता को जान लो कि संशयकर्त्ता कौन है? इसकी खोज करने से संशयों सहित संशयकर्त्ता निर्मूल हो जायेगा। तब जो अनिवार्य अवशिष्ट आत्मा है, वह व्यक्त हो जायेगा। सापेक्षता और अपूर्णता किसके लिए प्रकट की जाती है? परमात्मा अपूर्ण नहीं, इसलिए वह प्रश्न नहीं कर सकता। जड़ भी प्रश्न नहीं कर सकता। दोनों के मध्य कोई तीसरा उदय हो गया है, जो यह प्रश्न करता है। वह कौन है? खोजो। पूर्ण होकर तुम स्वयं को अपूर्ण क्यों समझते हो? अनुभव कुछ भी हो, अनुभवकर्त्ता एक एवं वही है। 'मैं' पूर्ण है। निद्रा में अनेकता नहीं, जो पूर्णता का द्योतक है।

१२८. प्रश्न– महर्षि को आत्मसाक्षात्कार में कितना समय लगा?

महर्षि–यह प्रश्न इसलिए पूछा गया है कि नाम एवं रूप की प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति अहम् के स्थूल शरीर से तादात्म्य कर लेने पर उत्पन्न हुई है। आत्मा तो सदैव है।

१२९. प्रश्न– क्या साक्षात्कार के लिए हठयोग आवश्यक है?

महर्षि–यह भी एक साधन है। परन्तु सदैव आवश्यक हो, ऐसा नहीं है। आत्म-विचार प्राणायाम से आगे है। प्राण अथवा बुद्धि-दोनों को संयम में रखने से सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। हठयोग प्राण का संयम है, आत्म-विचार बुद्धि का।

१३०. प्रश्न– काल क्या है ?

महर्षि–दो अवस्थाओं के बीच का अन्तराल काल कहा जाता है। मन को प्रयोग में न लाया जाए तो समय की परिकल्पना ही न हो। देशकाल मन में समाहित है किन्तु मनुष्य की वास्तविक अवस्था मन से अतीत है। निज वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए समय का प्रश्न तनिक भी उत्पन्न नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सद्दर्शनम्–भावार्थ

(एक ब्रह्मयोगी द्वारा प्रस्तुत)

सत्य की जिज्ञासा और उसके साक्षात्कार के लिए श्री रमण महर्षि ने औपनिषद् प्रक्रिया को स्पष्ट किया है, जो उसकी स्वानुभूति थी। छान्दोग्योपनिषद् में आया है "मूलमन्विच्छ" अर्थात् जीवन और जगत् के मूल (कारण, आश्रय, अधिष्ठान) का अनुसन्धान करो। इसी प्रक्रिया द्वारा उन्होंने जिज्ञासा पूर्वक गवेषणा की और सत्य से एकत्व का अनुभव किया। इसी प्रक्रिया का सुस्पष्ट चिन्तन उन्होंने 'सद्दर्शनम्' नामक रचना में सर्वहितार्थ प्रस्तुत किया है। अपने अन्तस् को तदभिमुख तथा पवित्र करने के लिए श्रद्धा एवं गवेषणापूर्वक हम यहाँ 'सद्दर्शनम्' के प्रियतर श्लोकों का अनुचिन्तन कर रहे हैं।

सत्प्रत्यायः किन्नु विहाय सन्तं? हृद्येष चिन्ता रहितो हृदाख्यः।
कथं स्मरामस्तममेयमेकं ? तस्य स्मृतिस्तत्र दृढैव निष्ठा।।१।।

क्या इस प्रतीयमान जीवन और जगत का कोई सच्चा आधार है? इस जिज्ञासा के समाधान में यह युक्ति है कि क्या किसी अपरिवर्तनशील वस्तु के बिना परिवर्तनीय वृत्तिवों की प्रतीति हो सकती है? क्या अधिष्ठान के बिना, कारण के बिना कोई अध्यस्त या कार्य सम्भव है? किसी भी प्रतीत होने वाली वस्तु का उदय-अस्त स्थान होता ही है। तब सत्य के इस परोक्ष ज्ञान को अपरोक्ष कैसे करें? अहम् सहित समस्त वृत्तियों की उपशान्ति होने पर सर्वाधिष्ठान सत् को प्रत्यक् रूप में साक्षात्कार कर सकते हैं। हृदय नामक इस सर्वाधिष्ठान सत् को श्रुति ने "एकमेवा द्वितीयम्" और "नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञम्" अर्थात् अद्वय और अप्रमेय कहा है, तब उसे वृत्त्यारूढ़ कैसे कर सकते हैं? प्रत्यगात्म-तत्त्व ही अद्वय और अप्रमेय होता है। ऐसी स्थिति में अपने सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक स्वरूप में अविचल वृत्त्यारूढ़ता ही उसकी स्मृति अतएव अविस्मृति है।

पदार्थः-सत्प्रत्ययाः=मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं प्रियतम हूँ, यह है इत्यादि अस्तित्व बोधक प्रतीतियाँ।

हृदाख्यः=चेतना का केन्द्र, अहम् वृत्ति का मूल।

हृदि=प्रत्यक् में। एषः=साक्षात् अपरोक्ष।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्तारहितः=निर्विचार अवस्था जिसमें 'मैं' वृत्ति भी शान्त हो।

स्मृतिः=वृत्त्यारूढ़ता, आत्मविस्मरण का न रहना।

तत्र=सर्वात्मस्वरूप में।

निष्ठा=अविस्मृति।

सत्यसुख की जिज्ञासा आवश्यक है उसी दृष्टि से ही यह चिन्तन किया गया है। कोई भी वृत्ति सुखका परित्याग नहीं कर सकती। अतः वह सुख क्या है? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। दुःखों से मुक्ति या मुमुक्षा इसी का दूसरा रूप है।

महर्षि रमण की प्रज्ञा सदैव गवेषणात्मक रही है। किसी भी मान्यता, अध्यारोप या भ्रम को उन्होंने स्वीकृति दी ही नहीं। इसलिए सकल और निष्कल परमात्मा के कल्पित प्रकारों को वे नहीं मानते। जब सत्य का और सुख का परित्याग सम्भव ही नहीं है, तब मंगलाचरण क्या? अनात्म या व्यवहार के कल्पित सुख में बाधा-निवृत्ति के लिए मंगलाचरण क्यों? क्या यह जिज्ञासा या मुमुक्ष परम मंगलमय नहीं है?

मृत्युञ्जयं मृत्युभिया श्रितानामहंमतिर्मृत्युमुपैति पूर्वम्।
अथ स्वभावादमृतेषु तेषु कथं पुनमृत्युधियोऽवकाशः।।२।।

मृत्यु के भय से मृत्युञ्जय की शरण ग्रहण करने वालों की सर्वप्रथम अहंमति ही मर जाती है और फिर स्वभाव से अमृत हो गये व्यक्ति में मृत्युबुद्धि की पुनरावृत्ति का अवसर ही कहाँ रह जाता है?

मृत्यु क्या है? दुःख, परिवर्तन, जड़ता, अन्यता, परिच्छिन्नता, जीवत्व, अदृश्यता, प्रलय–ये सब मृत्यु के रूप हैं। अपने स्वरूप की विस्मृति ही मृत्यु है। 'प्रमादम् वै मृत्युः', 'यदल्पं तन्मर्त्यम्'। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति', 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।' 'उदरमन्तरं कुरुते अथ सत्य भयं भवति।' सर्वं तं परादात् यो अन्यत्रात्मनो सर्वं वेद।' अर्थात् प्रमाद (विमुखता,असावधानी) ही मृत्यु है। जो भी अल्प है, अनित्य या सीमित है, वह मरने वाला है, मर रहा है। अन्य की सत्ता का ख्याल निश्चित ही दुःख का भय देता है। अन्यता का आग्रह अपनी मृत्युभय या दुःखभय का हेतु है, अन्यता की प्रतीति नहीं। पृथक्ता की कल्पना करने वाले को दुःख व मृत्यु का भय अवश्य होता है। अपने से पृथक् कुछ भी स्वीकार करना असन्तोष है।

सभी को दुःख और 'न रहने' का भय है। मृत्यु का भय अर्थात् सुखपूर्वक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीते रहने की इच्छा। ये सब परिच्छेद के प्रभाव हैं। मृत्यु के भय से अर्थात् मुमुक्षा से। मृत्युञ्जय कौन? जिसने अपने को भूमा-अद्वितीय अनुभव कर लिया। मृत्यु का जिसने अतिक्रमण कर लिया है अर्थात् विषय मात्र से सर्वथा असंग, साक्षी प्रत्यगात्मा। उसकी शरण या उसका आश्रय लेना क्या वस्तु है? विषय मात्र से उपरामता और आश्रयाकार वृत्ति ही।

अहंमति अर्थात् अहंवृत्ति या अहंवृत्ति या अहंबुद्धि-यह अनात्मा से तादात्म्य भ्रम है। 'मैं देह हूँ' या 'मैं परिच्छिन्न जीव हूँ' यह अहंमति है। देहाध्यास भी यही है। विषयकारता समाप्त होने ही वृत्ति आश्रय चैतन्य से एक हो जाती है, तब देहादि विषय न रहने से देहाकारता भंग हो जाती है और अपने वास्तविक अहम् से एकत्वरूप बोध करता है। अहंमति जो कि एक भ्रान्ति है, उसके निवृत्त होते ही व्यक्ति अपरिवर्तनशील सत् अर्थात् अमृत हो जाता है। अपना अमृतरूप अनुभव होते ही पुनः देहादि में अहम् की भ्रान्ति नहीं होती अर्थात् भय सर्वथा ही नहीं रहता।

अन्य मतावलम्बी तो किसी अनन्त अचिन्त्य शक्तिमान् को ही, कर्त्ता-भोक्ता जीव तथा कर्म-भोग्य जगत् का नियन्ता या कारण स्वीकार करते हैं। कारण ही कार्य का शासक है। कारण यदि उपादान है, अधिष्ठान है, सत् है तो वस्त्र-चित्र के दृष्टान्त में द्रष्टा, दृश्य, उनका आधार वस्त्र तथा प्रकाश भी एक ही वस्तु उपलब्ध होते हैं। द्रष्टा जब अपने मूल का अनुसंधान करता है, तब दृश्य का मूल भी वही अनुभूत होता है; क्योंकि द्रष्टा की परिच्छिन्नता भी दृश्यरूप ही होती है और परिच्छेद सामान्य का अधिष्ठान-प्रकाशक एक ही तत्त्व है।

अन्य विचारक तो जीव, जगत् और परमात्मा-ऐसे तीन भेद स्वीकार करके विचार करते हैं। परन्तु विचारणीय यह है कि देह में अहंबुद्धि ही इस भेदत्रय का हेतु है या नहीं? भेद से भय की प्राप्ति अनिवार्य है। अतः अभय पद तो देयत्रय में अहंबुद्धि का न रहना ही है। यह अभेदबोध वास्तविक अमृतत्व रूप निष्ठा है। अनित्य में निष्ठा नहीं हो सकती, उसमें दृढ़ता का भ्रम भले हो।

सत्यं मृषा वा चिदिदं जडं वा दुःखं सुखं वेति मुधा विवादः।
अदृष्टलोका निरहंप्रतीतिर्निष्ठाऽविकल्पा परमाखिलेष्टा।।५।।

जीव, जगत् और ईश्वर हैं या नहीं? वास्तविक हैं अथवा प्रतीति मात्र? अचेतन है या चेतन? सुखात्मक हैं या दुःखात्मक? अनित्य हैं या नित्य? सान्त हैं अथवा अनन्त?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादि। इन सब विकल्पों पर विचार करना किस प्रयोजन की सिद्धि करेगा? क्या विकल्पक के रहते हुए विकल्पों का निराश सम्भव है? परिच्छेद-भ्रम ही विकल्पों का जनक होता है। अतः दृश्य-सामान्य रूप विकल्प तथा अहंबुद्धि-इनके अनस्तित्व बोध व अभान से उपलक्षित जो दृक् सत्ता है, वही निर्विकल्प निष्ठा है, वही सम्पूर्ण और चरमरूप से परम् प्रयोजनीय भी है। समस्त विकल्पों का समाधान एवं निरास ही सबको इष्ट होता है।

सरूपबुद्धिर्जगतीश्वरे च सरूपधीरात्मनि यावदस्ति।
अरूप आत्मा यदि कः प्रपश्येत् सा दृष्टिरेकाऽनवधिर्हि पूर्णा ।।६।।

जब अपने में सगुण-साकार का निश्चय होता है, तभी अन्य में जगत् और जगदीश्वर में भी व्यक्ति सगुण-साकार की धारणा कर लेता है। यदि अपने को निराकार, निर्गुण-निर्विशेष अनुभव कर लिया जाय, जो कि वास्तव में वह है, तो अन्य रह ही नहीं जाता। तब कौन, किसमें, किसको, किसके द्वारा विषय करेगा? वस्तुतः यह अद्वय दृष्टि ही परिपूर्ण और अनन्त आनन्द रूप है, अन्य नहीं। तब जीव और जगत् की प्रतीति किस लिए?

जीव पञ्चकोशात्मक है और जगत् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धरूप है। जीव की जैसी धारणा होती है, क्या वैसा वह जगत् को ग्रहण करता है या जैसा जगत् है, वैसा ही जीव उसे ग्रहण करता है? क्या जगत् के अनुसार उसके प्रति जीव की धारणा बनती है अथवा जीव की धारणा के अनुरूप जगत् ग्रहण हो रहा है? प्रत्येक जीव की धारणा जगत् के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् होने से जीव की धारणा प्रमुख है। जगत् की उत्पत्ति, प्रतीति, परिवर्तन, प्रलय की धारणा का अधिष्ठान तो परिपूर्ण, अज, अमृत, अपरिवर्तनशील, ज्ञानस्वरूप और अद्वय है। उसी पर दृष्टि रहना पञ्चकोशात्मक जीव और विषय-प्रपञ्च का परम् प्रयोजन है और दोनों का समयक् समाधान है। नाम-रूपात्मक नानाविध साधनों का तात्पर्य सत्य का साक्षात्कार ही है। साक्षात्कार क्या? सर्वाधिष्ठान सत् में आत्मभाव की उपलब्धि रूप निष्ठा।

द्वन्द्वानि सर्वाण्यखिलास्त्रिपुट्यः
किञ्चित्समाश्रित्य विभान्ति वस्तु।
तन्मार्गणे स्याद्गलितं समस्तं
न पश्यतां सच्चलनं कदापि।।११।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परस्पर विरुद्ध प्रत्ययों के संवेदनों को और क्रिया-भाव-बोध की प्रक्रियाओं को जो प्रातिभासिक 'मैं' अनुभव करता है, उसकी के साक्षिअधिष्ठान की गवेषणा करते रहने से उस 'मैं' सहित अविद्या-कामना और समस्त द्वैत बाधित हो जाता है और अद्वय सुख का साक्षात्कार होकर वास्तविक स्थितप्रज्ञा प्राप्त हो जाती है।

जितना और जो भी ज्ञान है, ज्ञेय है, विद्या है अथवा अविद्या है- ये सब अनुभाव्य ही तो हैं। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था या सुषुप्ति अवस्था, शून्यावस्था, लयावस्था, ग्रहण दशा, अग्रहण दशा या अन्यथा ग्रहण दशा- ये सब परमार्थ विद्या, परमार्थ ज्ञान या चिद्विद्या से दूर हैं। इन सबका जो साक्षात् उपलब्धा है, वही वास्तविक बोध या विद्या है; क्योंकि उपलब्धा साक्षी-अधिष्ठान के बिना से सब केवल प्रातीतिक है, मिथ्या हैं। यह-वह, तू-मैं, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा देश के भेद से रहित आश्रय साक्षी से ऐक्यानुभव के बिना कभी भी सम्यक् सन्तोष सम्भव नहीं है। निरन्तर, अखण्ड रूप से वस्तु, विद्यमान है और भासमान है, उसी में निष्ठा ही परमार्थ है। प्रतीति मात्र के मूलस्वरूप, आत्म-वस्तु के अधिगम होते ही ज्ञानी-अज्ञानी, प्रारब्ध-पुरुषार्थ का रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि आत्मनिष्ठा के बिना ही ये सब प्रतीत हो रहे हैं। आत्मनिष्ठ को देह तथा जगत् सत्य नहीं लगता और नही प्रिय-अप्रिय लगता है। वह तो अपने को सर्वरूप अनुभव करता है।

ईश्वर का दर्शन, दिव्य-दर्शन आदि भी सर्वसाक्षी के साक्षात्कार के बिना मनोमय दर्शन ही है। साक्षिचेतन से पृथक् अन्य कोई न चेतन सम्भव है और न दिव्यता की कल्पना। शास्त्रों में आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवद्दर्शन का तात्पर्य ही यह है कि साक्षात्कार की इच्छा वाला, प्रयास वाला अपने मूल ब्रह्मस्वरूप का विषय या दृश्य प्रतीत हो जाय। अपने को अपने अधिष्ठान स्वरूप में प्रतीति मात्र, अध्यस्त, समर्पित, अपृथक् या शरणागत अनुभव कर लेना ही आत्म-दर्शन या ईश-दर्शन है।

परमात्मा प्रत्यक् से प्रकाशित कर रहा है निरन्तर। इसी प्रत्यक् प्रकाश का अवलम्बन करके परमात्म दर्शन करना ही आत्मनिष्ठा है।

सुषुप्ति में 'में देह हूँ'- ऐसी प्रतीति न होने पर भी कुछ अवशिष्ट रहता है, वही उस प्रातीतिक 'मैं' का मूल स्थान- अधिष्ठान ब्रह्म है। बस, केवल उसी का निरन्तर अनुसन्धान होने दो। यह प्रातिभासिक 'मैं' क्या है? अहंकार, जीव, चेतना, बन्ध, सूक्ष्म शरीर, ग्रंथि, संसार आदि नाम से जो मालूम पड़ता है, वह न तो जड़ देह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और नही आत्मचैतन्य। यह तो आत्मबोध रूप निष्ठा न होने से उदय-अस्तवान् एक प्रत्यय मात्र है। जो स्वयं अरूप है परन्तु विषयजीवी है। विषयाकारता ही इसका जीवन और प्रतीति है। आश्रयाकरता-इसका पूर्ण पर्यवसान है।

भावेऽहमः सर्वमिदं विभाति लयेऽहमो नैव विभाति किञ्चित्।
तस्मादहंरूपमिदं समस्तं तन्मार्गणं सर्वजयाय मार्गः।।२८।।

अहंभाव की प्रतीति होने पर ही यह सब भास रहा है। इसके लय हो जाने पर कुछ भी इदं रूप से प्रतीत नहीं हो सकता। अतः समस्त प्रत्यक्ष, परोक्ष, तथा अपरोक्ष विषय 'मैं' का ही रूप या विलास है। इस 'मैं' के उदय स्थान या लय स्थान अर्थात् अधिष्ठान-सर्वज्ञ की गवेषणा ही सर्व का अतिक्रमण है। सर्व का आत्यन्तिक विलय क्या स्वरूप की अद्वयता को लक्षित नहीं करायेगा?

सत्या स्थितिर्नाहमुदेति यत्र तच्चोदयस्थानगवेषणेन।
विनान नश्येद्यदितन्न नश्येत् स्वात्मैक्यरूपा कथमस्तुनिष्ठा।।२६।।

जिस स्थिति में अहंबुद्धि का अनुदय रहता है अर्थात् जहाँ सूक्ष्म या कारणात्मक अनुभाव्य भी शेष नहीं रहता, वही परमार्थ स्थिति है। इस अनुभाव्य अहं का नाश उसके उदय-स्थान (अधिष्ठान) की गवेषणा के बिना कदापि सम्भव नहीं। अहंभाव से सर्वथा अनुदय के बिना अद्वैतावस्थानरूप चरमनिष्ठा भी नहीं हो सकती। गवेषणा कैसे करें?

कूपे यथा गाढ़जले तथान्तर्निमज्ज्य बुद्ध्या शितया नितान्तम्।
प्राणं च वाचं च नियम्य चिन्वन् विन्देन्निजाहंकृतिमूलरूपम्।।३०।।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति गहरे जल में प्रवेश करके अभीष्ट वस्तु ढूँढता है तो अनिवार्यः उसे दृढ़ निश्चय और सावधानीपूर्वक वाक् और प्राण को निरुद्ध करके डुबकी लगानी पड़ती है; उसी प्रकार पूर्ण जागृति एवं तीव्र अनुसन्धान वृत्ति द्वारा, मानसिक संकल्प-विकल्प तथा प्राणों को रोक कर, निमज्जन करते हुए अर्थात् अनन्तताकार जिज्ञासा लिए हुए अपने परिच्छिन्न 'मैं' के अधिष्ठान स्वरूप अद्वैत प्रत्यक् की गवेषणा करे, जिससे वह वही हो जाय, जो कि वह वास्तव में है।

मौनेन मज्जन्मनसा स्वमूलचर्चैव सत्यात्मविचारंण स्यात्।
एषोऽहमेतन्न मम स्वरूपमिति प्रभा सत्यविचारणांगम् ।।३१।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तविक गवेषणा या विचार का अर्थ है- निदिध्यासन। श्रवण मनन रूप विचार तो उसके सहायक हैं। 'मैं असङ्ग अद्वय हूँ', 'मुझमें दृश्य सर्वथा नहीं है' आदि वृत्तियाँ भी निदिध्यासन रूप विचार (प्रत्यक्-प्रवणता) के अंग ही हैं। तात्पर्य यह है कि निर्दृश्यदृक् की उपलब्धि का अमोघ और सम्यक् साधन है- निदिध्यासन। वही जीवन में होना ही चाहिए।

इस प्रकार के अनुसन्धान से क्या प्रभाव प्रकट होगा? इसी कर्त्तव्यता बुद्धि तथा आध्यासिक अहंकार सर्वथा उपशान्त (आत्मस्वरूप में विलय) होकर ब्रह्मप्रज्ञा स्थिर हो जाती है। अर्थात् ब्रह्मात्मा से पृथक् कुछ शेष नहीं रहता। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि० (ईश०) आवश्यकता पड़ने पर शेष जीवन में, समर्पित मानवीय प्राकृत अहंकार सम्यक्तया कार्य निष्पन्न करता रहता है। उस जीवन्मुक्त पुरुष की प्रत्येक चेष्टा (लोक यात्रा) अद्वैत भाव से युक्त रहती है, जिसे ब्रह्मप्रज्ञा की अभिव्यक्ति से पूर्व अनुभव करना अत्यन्त कठिन है।

आह स्फुटं तत्त्वमसीति वेदस्तथाप्य संप्राप्य परात्मनिष्ठाम्।
भूयो विचारो मतिदुर्बलत्वं तत्सर्वदा स्वात्मतया हि भाति।।३४।।

श्रुति निर्विकल्प रूप से मुझे ही अविनाशी अमृत लखाने में एकाग्र है-'तत्त्वमसि' आदि वचनों का द्वारा; फिर भी स्वतःसिद्ध परमानन्द प्रत्यक् में निदिध्यासन के द्वारा स्थिति या एकत्व लाभ न करके केवल आत्मविषयक ऊहापोह या श्रवणादि में लगे रहना अश्रद्धा है; प्रमाद है। जबकि वह भूमा सुख आत्मचैतन्य रूप से-सर्वावभासक रूप से निरन्तर अपनी स्वयंता में स्पष्टतः स्फुरित हो रहा है।

विषयप्रवण चित्त चंचल होता ही है, जो प्रत्यक् ब्रह्म के अधिगम में असमर्थ होता है यही असमर्थता ही मति की दुर्बलता है। उसके निवारणार्थ 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'-ऐसा ब्रह्मसूत्र में निर्देश है। अर्थात् ब्रह्मविद्या का पुनः पुनः और दीर्घकाल तक अनुसन्धान करना चाहिए।

जो व्यक्ति यह कहते हैं कि 'मैं अपने स्वरूप को जानता हूँ' 'मेरी अविद्या बाधित हो गई है' तो क्या आत्मवस्तु ज्ञाता या द्रष्टा है? क्या अपनी ब्रह्मता का अग्रहण था? और जो यह कहते हैं 'मैं आत्मज्ञ नहीं हूँ', 'मेरा आवरण अभी भंग नहीं हुआ है' तो क्या आत्मतत्त्व ज्ञेय या दृश्य है? क्या अपनी ब्रह्मरूपता -अनन्तता आवृत्त होना शक्य है? इनका प्रकाशक अधिष्ठान तो सर्वथा स्पष्ट स्फुरित हो रहा है। क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा को भ्रान्ति हो सकती हैं ? या आत्मा से भ्रान्ति प्रकाशित हो रही है ? भ्रान्ति की प्रतीति क्या आत्मरूप से पृथक् होती है? वस्तुतः 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्येत्' आदि वाक्य आत्मा की अद्वयता लखा रहे हैं कि ज्ञान का साधन स्वयं ज्ञान ही है।

हृत्प्राप्य सद्धामनिजस्वरूपे स्वभावसिद्धेऽनुपलभ्य निष्ठाम्।
मायाविलासः सदसत्सरूपविरूपनानैकमुखप्रवादाः ।।३६।।

स्वतःसिद्ध अपने अनन्त चैतन्य को प्रत्यक् रूप में उपलब्ध न करके उसमें परिनिष्ठित न हो करके जो बौद्धिक आत्मविषयक विचारणा है, यही आत्मदेव की माया अर्थात् आवरण, प्रमाद या असमर्थता है।

सिद्धिस्य वित्तिः सत एव सिद्धिःस्वप्नोपमानाः खलु सिद्धयोऽन्याः।
स्वप्नः प्रबुद्धस्य कथं नु सत्यः सति स्थितः किं पुनरेति मायाम्।।३७।।

आत्मा सिद्ध है। तन्निष्ठा ही सच्ची सिद्धि है। शेष अनात्मविषयक स्वप्न के समान मिथ्या है और परमानन्द को स्थगित करने का व्यर्थ प्रयास मात्र है। आत्मनिष्ठा सिद्ध होने पर 'न स पुनरावर्तते' फिर उसमें द्वैत भाव की पुनरावृत्ति असम्भव हो जाती है।

श्रुति के महावाक्यों या अवान्तर वाक्यों का तात्पर्य न आवृत्ति में है, न पुनः-पुनः चर्चा या विचारणा में और न भावना में। 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानंब्रह्म', 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म' आदि वाक्यों का तात्पर्य है कि जो वास्तविकता है- जो ब्रह्मसत्य है, उसमें आत्मरूप दृष्टि और निष्ठा हो जाना। ब्रह्माद्वैत ही वास्तविकता है। विवेकज्ञान और अद्वैतज्ञान-ऐसा भेद नहीं है। विवेकज्ञान का पर्यवसान परिपूर्ण विज्ञान में ही है। विवेकज्ञान तो दृष्टि है और अद्वैत बोध निष्ठा है। इस सिद्ध अद्वैतनिष्ठा के बिना कर्त्ता, कर्म, कर्त्तव्य, कर्मफल तथा अदृष्ट की संवित् का प्रातीतिक और आत्यान्तिक प्रलय असम्भव है। अद्वैतनिष्ठा ही मोक्ष है, कैवल्य है, परमानन्द है, पराकाष्ठा है। सिद्ध आत्माद्वैत में अहम् या विषयरूप बन्धन और दुःख निवृत्ति रूप मुक्ति की कल्पना का स्पर्श भी नहीं है-ऐसा साक्षात् अनुभव ही वास्तविक बन्धनिवृत्ति या मुक्ति है। यही आपकी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति है। 'विमुक्तश्च विमुच्यते'। श्री रमण महर्षि सर्वात्मा है। वे आपका मुक्त स्वरूप हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीस्वामी अखण्डानन्द जी महाराज के सत्संग से प्राप्त संग्रह

१. जो स्वयं स्वरूप से स्वतः सिद्ध है, उसको अन्य समझकर एवं साध्य बनाकर क्यों व्यर्थ का बोझ ढो रहे हो। स्वयं होकर क्यों पराधीन भिखारी बनना चाहते हो?

२. अपने से अन्य कोई अज्ञात सता है, ऐसा मानना ही अज्ञान है।

३. स्वमः खाकर सुखी होने वाला जीव, दूसरों को खिलाकर सुखी होने वाला ईश्वर, बिना खाये जो सुखी रहता है, वह ब्रह्म है।

४. देह को मै मानना ही मन है। जब हम अपने मै को देह में बैठा लेते हैं, तभी देशकाल में पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण आगे पीछे की कल्पना बनती है। अन्यथा देशकाल अनन्त है और वह आत्मा से अभिन्न है।

५. मैं तीन बार शपथ खाकर कहता हूँ 'न कुछ हटना है, न कुछ मिलना है जो स्वमः मात्र तुम हो, बस इतना मात्र ही है शेष सब माया है, वह भी बस तुम्हारी है।

६. सब कुछ मुझमें और मुझमें कुछ नहीं।

७. एक में सब और सबमें एक वह कौन ? तत्त्वमसि

८. गहरी नींद में जो रहता है, वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है, ब्रह्म है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९. क्या आत्मा सत विषय बनेगा ? क्या दो सत होते हैं जो विषयरूप से उसको देखना, पाना चाहते हो?

१०. जब ज्ञान कभी विषय नहीं बनता, तब आनन्द ही कैसे विषय बनेगा ? सोचे बगैर यह अन्धी दौड़ क्यों ? यह विषय में सत्यत्व, प्रियत्व और वृत्ति में ज्ञानत्व क्या महज धोखा नहीं है?

११. क्या यह आत्म प्रतिबिम्बन मात्र नहीं है? इस दृश्य को जो तुम्हारी स्वयं की आत्मविभूति है, उसको अपने से अलग जान-मानकर धोखे में क्यों आ रहे हो?

१२. उस समग्र स्फुरण के एक क्षणिक देह में मैं-मैं करके क्यों बन्दी बने बैठे हो?

१३. ज़रा जागो और इस 'मैं' के मूल का अनुसंधान करो।

१४. जिसमें यह सब कुछ न कभी था, न है, न होगा। यह तो केवल भासता मात्र है।

१५. क्या तुम्हारा होना, भासना अद्वय नहीं है? क्यों अपने ही प्रक्षेपों से स्वयं अपने को पराधीन, दुःखी व विक्षिप्त मान रहे हो?

१६. असत वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत का अभाव नहीं है। तुम्ही सत वस्तु हो, इसके अतिरिक्त जो भासता है वह आकाश में जैसे नीलिमा प्रतीत तो होती है, परन्तु है कुछ नहीं, यही गीता का मुख्य सिद्धान्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीर व्यवस्था

शरीर की व्यवस्था मत सोचो।

इसे सुधारने का मिथ्या प्रयास मत करो, इसकी दुःखरूपता को देखो, यह एक तथ्य (Fact) है इस तथ्य का विरोध या इससे पलायन ही संघर्ष व दुःख हैं। इसका अवलोकन मात्र होने दो, तादात्म्य मत करो, क्या देहाभिमान से अतिरिक्त कोई बन्धन व दुःख है?

शरीर का प्रयोजन इससे मुक्ति ही है न कि इससे साध्य कोई अन्य मुक्ति। मुक्त तो तुम स्वयं हो स्वरूप नित्य सिद्ध है, साध्य नहीं।

स्वरूपगत मस्त रहनी

हम जैसे हैं, जो हैं। जहाँ भी हैं, वैसे ही परिपूर्ण हैं। जो हम पाना चाहते हैं, वह हम स्वयं हैं। स्वयंता को न हम छोड़ सकते, न पकड़ सकते, न स्वयंता हम से अलग हो सकती है। हमसे अलग होकर, यह दुनिया अस्तित्वहीन हो जावेगी। हम एक देह के कीड़े नहीं हैं। अपितु कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हमारी ज्ञान दृष्टि में फुर्फुरा रहे हैं। अनन्त कोई और नहीं; हम स्वयं हैं और न कोई अन्य अनन्त हो सकता है।

आश्चर्य

हम अपनी छाया पर स्वयं मुग्ध हो गये हैं, अपने को तो मानो भूल ही गये और यह गजब (आश्चर्य) है कि उस छाया को भी-यह अपनी छाया-ऐसा नहीं मानते। उस क्षणिक सुखात्मक प्रतीतिरूप छाया को जो आज तक पकड़ में नहीं आयी है और न कोई पकड़ सका है-पकड़ना चाहते हैं। स्वयं के मूल स्वरूप को समझते नहीं हैं। क्या आश्चर्य है? जहाँ देह भाव में आए, बस समस्याएं घेर लेंगी।

अपने में रहो

अन्य में ठहर नहीं सकते। आखिर कब तक ठहरोगे, ऊब जाओगे, कैसा भी वह प्यारा से प्यारा हो। स्वयं में लौटना होगा। परन्तु वासना चैन से नहीं बैठने देगी, फिर किसी अन्य में ले जावेगी। वहाँ से फिर स्वयं में लौटोगे। विश्रान्ति स्वयं में ही मिलेगी। भटक तो रहे हो, अब स्वयं में ठहरो यही परम सत्य परमानन्द है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्मय-चिन्तन (सिद्धसाधन)

ब्रह्मयोगी परम् (हरिश्चन्द्र)

१. जिसके बिना काम चल सकता है, उसे छोड़ दो; वैसे भी तो सब छूट ही रहा है। सचाई तो दीख रही है तुम्हें, फिर क्यों सोच रहे हो?

२. अर्धरोगहरी निद्रा, सर्वरोगहरी क्षुधा। अतः निरन्तर भूख लगी रहने दो।

३. यदि विषयोंमें सुख है तो मिलता क्यों नहीं? यदि नहीं है तो तुम उधर जाते क्यों हो?

४. तुम्हारा इष्ट व ईश्वर (नियन्ता) कौन है? वासना या अन्तरात्मा?

५. पहले नित्य सुख चाहिए या अनित्य सुख?

६. कर्तव्य क्या है? सत्य सुखका साक्षात्कार ही।

७. दुःख मनकी चंचलता नहीं, वासना है।

८. जब कुछ रहेगा ही नहीं, फिर क्यों भटक रहे हो?

९. आत्मपरिचयके बिना कर्तव्य धोखा है। कर्म और भोग सजाएँ हैं।

१०. परिवर्तनशील की रक्षा सम्भव है या व्यवस्था ? पूर्वक्षण तक सब स्वप्न था।

११. क्या करें? यह व्यर्थ है। क्यों करें? यह लक्ष्य है।

१२. कुछ हो या न हो, तुम जरूर हो। दो वृत्तियोंके मध्य तुम अनिवार्य हो।

१३. तनको निर्वाह मात्र चाहिए, जो नियतिसे प्राप्त होता ही है। मनको सुख चाहिए, जो तुम स्वयं हो।

१४. समस्या कैसे सुलझे ? नहीं सुलझेगी। समस्या किसे है? इसीमें सम्पूर्ण समाधान है।

१५. हम किसीसे क्या शिकायत करें, जब हम स्वयंसे ही बेगाना व बेवफा हो रहे हैं।

१६. पाना क्यों चाहते हो? जब सब पहलेसे मिला हुआ है। पकड़ते क्यों हो? जब सब कुछ छूट रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१७. जिसे तुम चाहते हो, वह तुम ही तो हो। जो विद्यमान और भासमान है, वह आत्मरूप ही है।

१८. कब जागोगे? जागना अनिवार्य है। तुम जाग ही तो रहे हो निरन्तर।

१९. 'मैं दुःख हूँ'-यह किसी का भी अनुभव नहीं है। 'मैं दुःखी हूँ'-यह अनुभव अन्य से सम्बन्ध के कारण है। सम्पर्क ही दुःख देता है।

२०. सुषुप्तिमें जो नहीं रहता, वह तुम्हारे लिये व्यर्थ है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि सुषुप्ति आत्मस्थिति हो।

२१. आकाशकी अनन्तताका चिन्तन तुम्हें आत्मानन्दकी झलक दिखा देगा।

२२. सबमें तुम्हीं हो। सब कुछ तुम्हींमें है। तुम ही तुम हो और तुम्हीं परमानन्द हो। यही तदीक्षण है-शरणागति भी।

२३. मैंरहित सर्वमें सुख नहीं होता। सर्वरहित मैं में दुःख नहीं होता।

२४. जानना अखण्ड है-अनन्त है। सुख भी, सत्ता भी।

२५. आप जो हैं, जैसे हैं, जब हैं, और ज़हाँ हैं, पूर्ण ही तो हैं-अनुभव कीजिए।

२६. अद्वैत आनन्द ही द्वैतके रूपमें प्रतीत हो रहा है। जो निरन्तर तुम्हें तुम्हारी ओर इशारा कर रहा है।

२७. सत्य-सुखकी प्राप्तिकी युक्ति केवल यही है कि वास्तव में जो हम हैं, उसीको स्वीकृति दें, बस।

रामकृष्ण परमहंस

मनुष्य अपने आपको पहिचानने से भगवान को पहचान सकता है- "मैं कौन हूँ ?" भलीभाँति विचार करने पर मालूम होता है कि मैं नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। हाथ, पैर, खून, माँस इत्यादि इनमें से मैं कौन है ? जिस प्रकार प्याज का छिलका अलग करते-करते छिलका ही निकलता जाता है, शेष कुछ बचता ही नहीं, उसी तरह विचार करने पर अपनत्व के नाम से कुछ भी बच नहीं रहता, अन्त में जो कुछ भी रहता है, वही आत्मा या परमात्मा या चैतन्य है।

अहंभाव दूर हो जाने पर भगवान के दर्शन होते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री रमण महर्षि ने स्पष्ट दिशा दी–

'मैं कौन हूँ ?' मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ अथवा यह ऐसा है या वैसा– इस विचार से मुक्त होकर अपने 'स्व' मात्र में ही रहो, जो कि तुम वास्तव में हो। अपने अस्तित्व में रहना – यही साधन है। अस्तित्व पूर्ण है व सत्य है। जब इसका विशेष रूप में वर्णन किया जाता है, तब वह असत्य है। यही सम्पूर्ण सत्य है।

प्रायः लोग माया के सम्बन्ध में ही जानकारी करते हैं, परन्तु माया किसको प्रभावित कर रही है, इसकी परीक्षा नहीं करते। यह मूर्खता है। खोज करो तो माया का लोप हो जायेगा। माया बाहर है और अज्ञात है तथा जिज्ञासा करने वाला ज्ञात तथा अन्दर है। अभ्यास क्या है ? 'मैं' भाव के मूल स्रोत की निरन्तर खोज।

मन को संसार से किस प्रकार हटावें ? क्या संसार है ? क्या जगत् कहता है कि वह है। उस आत्मा को मालूम करो जो यह कहता है।

मुद्रक : देव प्रिण्टर्स, 59–पटेल नगर, नयी मण्डी, मुजफ्फरनगर। फोन : 404557

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi